आ गये हैं यथा—'**क्रोशतः परमार्तस्य श्रुतः शब्दो मया भृशम्॥ आक्रन्दमानं तु वने भ्रातरं त्रातुमर्हसि। तं क्षिप्रमभिधाव त्वं भ्रातरं शरणैषिणम्॥ रक्षसां वशमापन्नं सिंहानामिव गोवृषम्।**' (३। ४५। २—४)] (ख) *'परम सभीता'* से जनाया कि देह काँपने लगी, अश्रुपात हो रहा है, रोयें खड़े हो गये हैं। [क्या दशा हुई होगी, इसकी कल्पना करना आज-कलकी सुशील नारीवर्गको भी असम्भव है। जिनको श्रीराघवकी शीतल 'सिख' भी दाहक हो गयी थी। (अ० ६४। २), उनका *'आरत गिरा'* सुनकर सूख जाना असम्भव नहीं। मुख विवर्ण हो गया, शरीर एकदम सूख गया। शरीरमें स्वेद (पसीना), छातीमें घबराहट इत्यादि बाह्य लक्षण लक्ष्मणजीके देखनेमें आये ही होंगे। (प० प० प्र०) वाल्मी० ३। ४५। १ में श्रीसीताजीने कहा कि मेरे प्राण और हृदय अपने स्थानपर नहीं हैं, यथा—'**नहि मे जीवितं स्थाने हृदयं वावतिष्ठते**····', यह भी *'परम सभीता'* का भाव है। वाल्मीकिजी उन्हें मृगीके समान डरी हुई लिखते हैं। यथा—'**अब्रवील्लक्ष्मणस्त्रस्तां सीतां मृगवधूमिव॥**' (३। ४५। १०)

टिप्पणी—३ *'जाहु बेगि संकट अति भ्राता।'* यहाँ *'परम सभीता'* का कारण कहा कि तुम्हारे भाईपर बड़ा भारी संकट आ पड़ा है। इससे जनाया कि मारीचके शब्द, अतिसंकटमें जैसे शब्द उच्चारण होते हैं, वैसे ही हैं और यह कि श्रीरामजीके स्वरसे मिलते हुए स्वरमें उसने लक्ष्मणजीको पुकारा था। [यथा—*'सुनहु तात कोउ तुम्हहि पुकारत प्राननाथ की नाईं।'* (गी० ३। ६), वाल्मी० और अ० रा० के प्रमाण पूर्व आ चुके हैं। *'अति'* का भाव कि जब उन्होंने समझ लिया कि बिना तुम्हारी सहायताके जीवित नहीं बच सकते तब तुमको सहायताके लिये पुकारा। (पं० रा० व० श०)]

प० प० प्र०—☞ *'जाहु बेगि संकट अति भ्राता'* में पतिव्रता स्त्रीका स्वभाव चित्र-चित्रण कितना सुन्दर है। यहाँ *'अधिक प्रीति मन भा संदेहा'* भी चरितार्थ हो गया।

टिप्पणी—४ *'लछिमन बिहसि कहा सुनु माता'* इति। लक्ष्मणजीको मालूम है कि राक्षस मारा गया। *'बिहँसना'* सीताजीकी असम्भव बातपर है। वे यह जानते हैं कि श्रीरामजीपर संकट पड़ नहीं सकता, संकट पड़ना असम्भव है। वे यह भी जानते हैं कि यह श्रीरामजीके शब्द नहीं हैं, यथा—'**न स तस्य स्वरो व्यक्तं न कश्चिदपि दैवतः। गन्धर्वनगरप्रख्या माया तस्य च रक्षसः।**······' (वाल्मी० ३। ४५। १६-१७) अर्थात् लक्ष्मणजी श्रीसीताजीसे कहते हैं कि स्वर और शब्द न तो श्रीरामजीके हैं और न किसी देवताके। यह उसी राक्षसकी गन्धर्वनगरके समान झूठी माया है। पुनः खर्रामें लिखा है कि लक्ष्मणजीके *'बिहँसने'* से उन्होंने दूसरा भाव समझा पर इनका माताभाव दृढ़ रहा इसीसे इनने 'माता' सम्बोधन किया। (श्रीसीताजीमें माताभाव पूर्वसे ही है। माता सुमित्राकी भी शिक्षा है—*'तात तुम्हारि मातु बैदेही।'*)

पं० रा० चं० दूबे—कविने यहाँ भी कैसा उच्च आदर्श स्थान स्त्रियोंका दरसाया है। 'मारीच मरते समय श्रीलक्ष्मणजीका नाम उच्च स्वरसे पुकारता है। यह आर्त्तनाद श्रीसीताजीके कर्णगोचर होता है। पतिपरायणा किसी अशुभकी शङ्कासे विह्वल हो जाती है और *'कह लछिमन सन परम सभीता········।' 'लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता'*—आहा, कैसा उदार मान है! माता शब्दमें कैसा उच्च भाव है! क्या पाश्चात्त्य लेखक इस भावको प्रदर्शित करनेमें समर्थ हुए हैं? अस्तु! सीतादेवी उस समय ऐसी कातर हो गयीं कि उनको यह उपदेश बुरा लगा।—*'मरम बचन सीता जब बोला···।'* उन मर्मवचनोंकी ओर केवल संकेतकर साफ-साफ न लिखना भी कविके उच्च आदर्शको ही दरसाता है। कवि उन शब्दोंको लेखनीद्वारा अङ्कित न करके दिखलाता है कि सीताजीका आदर्श उसकी दृष्टिमें कितना ऊँचा है। उस आदर्शके साथ ये शब्द शोभा नहीं पाते। वीर लक्ष्मणजीके समान तुनकमिजाज जो किसीकी बात सहन नहीं कर सकते थे, देवीके शब्दोंको सुनकर दमबखुद हो जाते हैं। उत्तरतक नहीं देते। वह एजेक्स Ajax की तरह यह नहीं कह उठते कि 'स्त्री! तेरा चुप रहना ही सबसे अच्छा भूषण है'। बल्कि *'बन दिसि देव सौंपि सब काहू······।'* ऐसे कठोर वचन सुनकर भी वही आदर, वही भक्ति, वही स्नेह झलकता रहता है। भाईकी आज्ञाका उल्लङ्घन होता है। यह भी मालूम है कि सीताजीको सुन-सान आश्रममें अकेले छोड़ना उचित नहीं। पर देवीकी आज्ञाका पालन किया जाता है और जब इस आज्ञा उल्लङ्घनका इस प्रकार जवाबतलब

होता है—'*आयेहु तात बचन मम पेली*', तब लक्ष्मण भाभीकी चुगली नहीं खाते—केवल इतना ही कह देते हैं—'*नाथ कछु मोहि न खोरी।*'

भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहु संकट परै कि सोई॥ ४॥
मरम बचन जब सीता बोला। हरिप्रेरित लछिमन मन डोला॥ ५॥
बन दिसि देव सौंपि सब काहू। चले जहाँ रावन ससि राहू॥ ६॥

शब्दार्थ—**डोलना**=विचलित होना, दृढ़ न रह जाना। **लय**=प्रलय, नाश। **मर्म**=हृदयको भेदन करनेवाले।

अर्थ—जिनकी भौंहके फिरनेसे (इशारामात्रसे) सृष्टिका नाश होता है, क्या वे श्रीरामजी स्वप्नमें भी सङ्कटमें पड़ सकते हैं? (कदापि नहीं)॥ ४॥ इसपर जब श्रीसीताजीने मर्म वचन कहा तब प्रभुकी प्रेरणासे लक्ष्मणजीका मन डाँवाडोल हो गया॥ ५॥ वन और दिशाओं आदिके सब देवताओंको सौंपकर लक्ष्मणजी वहाँ चले जहाँ रावणरूपी चन्द्रमाको ग्रसनेवाले राहु श्रीरामजी थे॥ ६॥

नोट—१ '*भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई*…' इति। (क) भाव कि जिसके भ्रूविलासमात्रसे चराचर-मात्रका नाश होता है उसका नाश कौन कर सकता है? भ्रूके कटाक्षमात्रका यह बल है, तब शरीरके बलकी क्या कही जा सके? (पं० रा० कु०) लंकाकाण्डमें शिवजीने भी ऐसा ही कहा है, यथा—'***भृकुटि भंग जो कालहि खाई।***' (६। ६५। २) इशारेमें किञ्चित् श्रम नहीं क्योंकि भृकुटि तो साधारणतया ही फिरती है। (ख) पुनः '*सृष्टि लय*' में 'उत्पत्ति, पालन और संहार' तीनों आ गये। 'सृष्टि'=सृष्टि रचना और उसका पालन। (प्र०) श्रीप्रज्ञानानन्दस्वामीजीका मत है कि 'सृष्टिलय' शब्दोंका अर्थ 'उत्पत्ति स्थिति लय' भी हो सकता है तथापि इस स्थानपर प्रकरणार्थानुसार 'सृष्टिका लय' ऐसा अर्थ करना ही योग्य होगा, कारण कि सीताजीके मनमें रामजीके मरणकी आशङ्काने घर बना लिया है, इसीसे लक्ष्मणजीने कहा कि जिनकी इच्छामात्रसे अखिल विश्व, विनाशके सङ्कटमें पड़ेगा उनका जीवित सङ्कटमें पड़ना असम्भव है। (प० प० प्र०) इस मतका परिपोषण (अ० रा० ३। ७। ३०) से होता है। उसमें लक्ष्मणजीके वचन ये हैं—'**रामस्त्रैलोक्यमपि यः क्रुद्धो नाशयति क्षणात्।**' (३०) अर्थात् जो श्रीरामचन्द्रजी क्रोधित होनेपर एक क्षणमें सम्पूर्ण त्रिलोकीको भी नष्ट कर सकते हैं। पाठक देखेंगे कि '*भृकुटि बिलास*' शब्द '***क्रुद्धो***' से कहीं अधिक उत्तम है। ☞'*भृकुटि बिलास सृष्टि लय*' इन ४ शब्दोंमें जितना बल भरा हुआ है, वह वाल्मीकीयके सर्ग ४५ के निम्न श्लोकोंसे कहीं बढ़कर है, पाठक स्वयं देख लें।*

टिप्पणी—१ वाल्मीकीय सर्ग ४५ में जो मर्म वचन बोलना लिखा है उसे पूज्य कविने न लिखा, केवल '*मरम बचन*' इतना मात्र लिखकर छोड़ दिया, आशयसे दिखाया कि जब '***लछिमन बिहसि कहा सुनु माता***' तब उनके हँसनेपर कुपित हुईं कि रामजीकी आर्त्तवाणी सुनकर भी हँस रहा है। इससे जान पड़ता है कि तुम चाहते हो कि उन्हें कुछ हो जाय तो हमको सीता प्राप्त हो जायँ। [नोट—जिसे अनुचित जानकर पूज्य कविने नहीं लिखा उसे यह दीन उद्धृत नहीं कर सकता, जो चाहे वहाँ देख ले। हाँ, '***मर्म बचन***' से जनाया कि ये हृदयमें भिदने और घाव करनेवाले हैं। ऐसा हुआ भी, यथा—'**इत्युक्तः**

---

* अब्रवील्लक्ष्मणस्त्रस्तां सीतां मृगवधूमिव। पन्नगासुरगंधर्वदेवदानवराक्षसैः॥ अशक्यस्तव वैदेहि भर्ता जेतुं न संशयः॥ देवि देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु पतत्रिषु॥ राक्षसेषु पिशाचेषु किन्नरेषु मृगेषु च। दानवेषु च घोरेषु न स विद्येत शोभने॥ न त्वामस्मिन्वने हातुमुत्सहे राघवं विना। अनिवार्यं बलं तस्य बलैर्बलवतामपि॥ त्रिभिर्लोकैः समुदितैः सेश्वरैः सामरैरपि। हृदयं निवृतं तेऽस्तु संतापस्त्यज्यतां तव॥' (१०—१२, १४-१५) अर्थात् हरिणीकी तरह डरी हुई श्रीसीताजीसे लक्ष्मणजी बोले—नाग, असुर, गन्धर्व, देव, दानव और राक्षस कोई भी श्रीरामजीको नहीं जीत सकते। हे देवि! देवी, देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पक्षी, राक्षस, पिशाच, किन्नर, पशु और दानव कोई भी श्रीरामके सामने नहीं खड़ा हो सकता। मैं तुमको अकेली नहीं छोड़ सकता। तीनों लोकोंके बलिष्ठलोग मिलकर भी युद्धमें रामजीको नहीं जीत सकते। अतः तुम अपने मनका दुःख दूर करो।

परुषं वाक्यं सीतया रोमहर्षणम्।' (वाल्मी० ४५। २७) अर्थात् कठोर वचन सुनकर उनके रोंगटे खड़े हो गये। लक्ष्मणजीने स्वयं कहा है कि आपकी बातें कानोंमें तपे हुए बाणके समान मालूम होती हैं, मैं सह नहीं सकता। यथा—'**न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे।' 'श्रोत्रयोरुभयोर्मध्ये तप्तनाराचसन्निभम्।'''''''** (वाल्मी० सर्ग ४५। ३०-३१)।

'मरम बचन जब सीता बोला'

पु० रा० कु०—'बोला' पुँल्लिङ्ग है। *'सीता बोली'* ऐसा लिखना चाहिये था। *'बोला'* कहना अनुचित है। इस अपने कथनसे कवि यह भाव दर्शित करते हैं कि सीताने लक्ष्मणको अनुचित बात कही। अयोग्य कहा है, तो हम उचित पद कैसे धरें। अनुचित बात लिखनेयोग्य नहीं, केवल भावसे दर्शित कर दिया है।

श्रीगौड़जी—*'मरम बचन जब सीता* (द्वारा) बोला (गया)', इस प्रकार अन्वय होना चाहिये। यह तो मायाका खेल था। सीताजी हों और लक्ष्मणजीको मर्म वचन कहें, यह तो असम्भव था। इसीलिये यहाँ कर्मवाच्य पद दिया गया कि कर्मवाच्यमें कर्मकी प्रधानता रहती है। कर्तापदकी नहीं। लक्ष्मणजीके देखने-सुननेमें सीताद्वारा ही वचन बोला गया। परन्तु कवि बड़े कौशलसे माया-सीताको गौड़ कर्तृपद देकर मानो छिपाता है, परदेमें रखता है।

प० प० प्र०—*'सीता बोला'* यह व्याकरणदृष्ट्या दोष है ऐसा कोई कहेंगे भी पर यह दोष नहीं, गुण है। *'हरि प्रेरित'* शब्दोंको देहली-दीपकसे लेना चाहिये, तब भाव यह होगा कि जब हरिकी प्रेरणासे सीताजीके मुखारविन्दसे मर्मवचन निकल गये तब हरिकी ही प्रेरणासे लक्ष्मणका मन निश्चय, चलित हो गया। अन्यथा सीताजीकी सेवा जिस देवरने १२ साल ९ महीने और अठारह दिन की और जो सीता लक्ष्मणपर बालक-समान प्रेम करती थीं उनका लक्ष्मणको ऐसे मर्म वचन बोलना कब सम्भव था? भगवान्‌को *'ललित नर लीला'* और *'निसाचर नास'* करना है। वे ही सब पात्रोंके अन्तःकरणोंका सञ्चालन करते हैं। नारद, सती, मंथरा, कैकेयी, वसिष्ठ, दशरथ, शूर्पणखा, रावण, मारीच, सीता, लक्ष्मण, जटायु इत्यादि अवतार-नाटकके सब प्रमुख पात्र हरिप्रेरणासे ही सहज स्वभाव, निश्चय इत्यादिके विरुद्ध ही कार्य करते हैं। मानसमें *'हरि इच्छा भावी बलवाना' 'राम कीन्ह चाहैं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'* यह सिद्धान्त आदिसे अन्ततक चरितार्थ किया है और *'काहुहि बादि न देइअ दोषू'* यह उपदेश मंथरा, कैकेयी, रावण, मारीचादिके विषयमें भी सत्य है। इनमेंसे किसीको भी दोष नहीं है। यह सिद्धान्त मानसमें साधारण जितना स्पष्ट है इतना अन्य रामायणोंमें मिलना असम्भव है।

श्रीनंगेपरमहंसजी—*'मरम बचन बोला'* इति। इसके दूसरे चरणमें *'लछिमन मन डोला'* लिखना था, इसीसे उसके अनुसार प्रथम चरणमें *'बोला'* शब्द लिखा गया।

टिप्पणी—२ (क) *'हरि प्रेरित लछिमन मन डोला'* इति। भाव कि मायाद्वारा उनकी बुद्धि नहीं प्रेरित हो सकती थी। उनका मन प्रभुकी प्रेरणासे विचलित हुआ। *'हरि प्रेरित'* पद देकर आज्ञाभंग-दोष निवारण किया।—☞*'हरि प्रेरित'* पदसे उस शङ्काको दूर किया कि 'यदि श्रीलक्ष्मणजीको श्रीरामजीकी प्रभुतापर इतना विश्वास था तो क्यों गये? कहीं छिपे रहते']] (ख) *'मन डोला'* अर्थात् सीताजीको छोड़कर श्रीरामजीके पास जानेकी इच्छा हुई। [परतमकी मायाका लक्ष्मणजीको भी पता नहीं था। इसीलिये प्रेरणा हुई। नहीं तो आज्ञाका उल्लङ्घन उनसे असम्भव था। (गौड़जी)]

नोट—२ पाँड़ेजी आदिने *'सीता बोली', 'मति डोली'* पाठ रखा है। गोस्वामीजीके गूढ़ भावोंके न समझनेसे ही हमलोग इस प्रकार पाठ बदलते हैं, यह हमारी बड़ी भूल है। पं० रामकुमारजी एवम् गौड़जीने इसका भाव स्पष्ट कर दिया है।

टिप्पणी—३ *'बन दिसि देव सौंपि सब काहू'* इति। (क) श्रीरामजीने आज्ञा दी थी कि *'सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी॥'* यहाँ तीनों प्रकारसे रक्षा दिखाते हैं। (१) वनदेव, दिशिदेव आदिको सौंपा, यह बुद्धिसे रक्षा की। (२) *'भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।'''''* यह विवेकसे

रक्षा की। और (३) रेखा खींच उसके भीतर सीताजीको रखा यह बलसे रक्षा की। यह मन्दोदरीके वचनसे स्पष्ट है—*'रामानुज लघु रेख खँचाई। सोउ नहिं नाँघेउ असि मनुसाई—'* (लं० ३५) तथा आनन्दरामायणमें—'**तत्क्रूरवचनं तस्याः श्रुत्वा ज्ञात्वा महद्भयम्। ततः सधनुषः कोट्या रेखां कृत्वा समन्ततः, ननाम च पुनस्सीताम्।**' समग्र वनदेवताओंको सौंपना वाल्मीकिजी भी लिखते हैं—'**रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः।**' (३। ४५। ३४) हनुमन्नाटकसे भी रेखाका खिंचाना स्पष्ट है; यथा—'**स व्याहरद्धर्म्मिणि देहि भिक्षामलङ्घयल्लक्ष्मणलक्ष्मलेखाम्। जग्राह**…।' अर्थात् रावणके भीख माँगनेपर ज्यों ही सीताजीने लक्ष्मणजीके धनुषके चिह्नकी रेखाका उल्लङ्घन किया…' (अंक ४। ६) (अ० दी० च० कार लिखते हैं कि यहाँ श्रीसीताजी मर्म बातें कह रही हैं, इससे सीताजीको छोड़कर उन्होंने प्रभुके पास जाना उचित समझा—यह *'समय'* विचारा। अकेली कैसे छोड़ें? अतः वनदिशि देवको सौंपा। यह बुद्धि है। रेखा खींचकर बल दिखाया कि जो इसके भीतर आयेगा वह भस्म हो जायगा।)

(ख) देव, दिक्पाल आदिने रक्षा की? नहीं। कारण कि वे सब तो रावणसे डरते थे, दूसरे वे चाहते भी थे कि हरण हो जिसमें उसका सारा कुल नष्ट हो, नहीं तो एक रावण ही मारा जाता। ऐसा न होता तो वे पहले ही आकर लक्ष्मणजीको खबर दे देते। (हरिप्रेरित लक्ष्मण *'मन डोला'* तब हरिप्रेरित देवता भी क्यों रक्षा करने लगे? लक्ष्मणजीने अपना कर्तव्य कर दिया। अ० रा० में लिखा है कि जब रावणने अपना रूप दिखाया तब वनके देवी-देवता सभी भयङ्कर रूपको देखकर डर गये । इससे यह भाव निकलता है कि यदि रावणके अतिरिक्त कोई होता जिससे वे न डरते थे तो वे रक्षा अवश्य करते।)

प० प० प्र०—इस प्रकरणमें लखनलालजीके रेखा खींचनेका उल्लेख नहीं है। वाल्मीकीयमें भी नहीं है तथापि मन्दोदरी जब चौथी बार रावणको समझाती है, तब उसने कहा है कि *'रामानुज लघु रेख खँचाई।* ………', इस कथनके आधारपर कोई-कोई टीकाकार वह भाव इधर लगाते हैं, पर यह ठीक नहीं है। कारण कि अरण्यकाण्डके कथाके वक्ता काकभुशुण्डिजी हैं; यह *'इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥'* से स्पष्ट है। और यह कथा नारदशापसे क्षीरसागरशायी नारायणके अवतारकी है। मन्दोदरीके कथनमें वैकुण्ठाधिपति विष्णुका अवतार सूचित होता है; यथा—*'अति बल मधुकैटभ जेहि मारे'। 'महाबीर दितिसुत संघारे', 'जेहि बलि बाँधि सहसभुज मारा।'* (लं० ६। ७-८) वह रेखा खींचनेका उल्लेख अन्य कल्पका है, अर्थात् दीन-घाटकी कथाका है और यह कथा-प्रसङ्ग भक्ति-घाटका है।

मानसमें चार कल्पोंकी कथाका ऐसा सुन्दर मिश्रण है कि *'सहसा लखि न सकहिं नर नारी।'* तथापि भेददर्शक शब्दोंकी योजना भी ऐसी खूबीसे की गयी है कि *'ग्यान नयन निरखत मन माना।'* आगे जटायुकी कथाके वक्ता शिवजी हैं, वह ज्ञानघाटकी कथा है। इससे यह लाभ हो गया कि सभी प्रकारकी भावनासे पाठकोंको अपना-अपना प्रिय मत, भाव इसमें मिल सकता है। वाद-विवाद, खण्डन-मण्डनके लिये स्थान ही नहीं है। तथापि चारों कल्पोंकी कथाओंको अलग-अलग समझे बिना ग्रन्थका समन्वय नहीं हो सकता है।

टिप्पणी—४ *'चले जहाँ रावन ससि राहू'* इति। यहाँ *'रबि राहू'* न कहकर *'शशि राहू'* कहा। कारण कि—(क) रामजी सूर्यवंशी हैं, [सूर्यवंशी रामजी उसे मारेंगे, उसके तेजको हर लेंगे, जैसे सूर्य चन्द्रमाके तेजको हर लेता है। यथा—*'प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिही।'* (२०९) *'तासु तेज समान प्रभु आनन।'* (६। १०२)] अतः यहाँ सूर्यका ग्रास कैसे कहें? पुनः, (ख) चन्द्रमा सकलंक है; यथा—*'जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक।'* सूर्य कलंकी नहीं है—(रावण कुल-कलंक है; यथा—*'रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका।'* (५। २३) सूर्य-राहुकी उपमा यहाँ उपर्युक्त कारणोंसे अयोग्य जानकर न दी। [(ग) रावण निशिचर है और चन्द्रमा भी 'निशि+चर'। यह निशिचरराज है और वह 'निशि-पति' (राकेश, शर्वरीश) है। (घ) यह जगज्जननीका हरनेवाला और वह गुरुतियगामी, इत्यादि। अतएव दोनोंका जोड़ खूब अच्छा है। (खर्रा)] (ङ) राहु पूर्णचन्द्रको ग्रसता है, अतः रावणको पूर्णचन्द्रसे उपमा देकर जनाया कि अब उसका भोग पूर्ण हो चुका। अब वह मारा जायेगा। (च) जैसे

चन्द्रका ग्रासकर्ता राहु ही है वैसे ही रावणके वधकर्ता राम ही हैं, दूसरा कोई नहीं। (छ) चन्द्रमाका अपराध राहुने नहीं किया वरन् राहुका अपराध चन्द्रने किया, वैसे ही रामका अपराध रावणने किया, रामजीने उसका अपराध नहीं किया।

प० प० प्र०—*'रावन रवि राहू'* लिखनेसे अनुप्रास अधिक रम्य हो जाता, तथापि रावणको रविसे रूपित न करके शशिसे रूपित करनेमें विशेष हेतु है, जो दोनोंके मिलानसे स्पष्ट हो जायँगे।

शशि	रावण
चन्द्र क्षीरसागरसे निकला है।	१ यह समुद्रपरिखाङ्कित लंकासे निकलकर आया है।
देवासुरोंके प्रयत्नसे चन्द्रकी उत्पत्ति।	२ शिव-विरंचिके वरसे और कुम्भकर्ण मेघनादादि असुरोंके सहायसे इसकी शक्ति।
चन्द्रको विष बारुणी (बंधु) प्रिय हैं।	३ इसको परधनरूपी विष और वारुणी प्रिय है। *'धन पराव बिष तें बिष भारी'*।
चन्द्र निशा प्रिय।	४ रावणको मोह-निशा प्रिय।
चन्द्रके राज्यमें—रात्रिमें व्याघ्रसिंहादि हिंस्र प्राणियोंका बल बढता है तथा चोरोंका।	५ रावणराज्यमें दुष्ट, दुर्जनोंका बल बढ़ा, यथा—*'बाढ़े खल बहु चोर जुआरा'*। *'मत्सर मान मोह मद चोरा'* बहुत बढ़ गये।
चंद्र विरहिणि दुखदाई	६ रावण देव-यक्ष-गन्धर्व-नर किन्नर-नाग-कुमारियोंको विरह दुःखमें डाल रहा है और सीताजीको भी।
चंद्रबिंबमें अमृत रहता है—*'शशिहि भूष अहि लोभ अमी के'*।	७ यहाँ *'नाभिकुण्ड पियूष बस याके'*।
चंद्रका रूप सदा बदलता है।	८ रावण भी नाना रूप धारण करता है।
चंद्र पंकजद्रोही, कैरवसुखद है, उलूकोंका बल बढ़ाता है	९ यह 'ज्ञान-विज्ञान-पंकज', 'संतकंज', को दुःखद है, अघ उलूकोंको बढ़ाता है, मोहादि कैरवको सुखद है।
कलापूर्ण होनेपर राहु ग्रास करता है।	१० रावणके पापोंकी परमावधि होनेपर राम-राहु इसे ग्रसेंगे।
इसने गुरुपत्नीकी अभिलाषा की।	११ यह जगद्गुरुपत्नी और जगज्जननीकी अभिलाषा करता है *'जगद्गुरुं च शाश्वतम्'*, *'जगदंबा जानहु जिय सीता'*। *'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता।' 'जगदंबा संततमनिंदिता।'* (७। २४)
चंद्र गुरुशाप दग्ध है।	१२ यह अनरण्यराजा (रामजीके पूर्वज) और अन्य अनेकोंके शापोंसे दग्ध है।

मिलानकी चार बातें ऊपर टिप्पणी ४ (ख), (ग), (च), (छ) में आ चुकी हैं। इस तरह दोनोंमें १६-१६ गुण हैं।

जैसे चन्द्रकी सोलह कलाएँ होती हैं वैसे ही रावणमें ये षोडश कलाएँ हैं। यद्यपि राहु रविको भी ग्रसता है तथापि रविमें कलंक, अमृत, विरहिनि-दुखदायित्व, दुर्जन-हिंसक-सुखदायित्व नहीं हैं। ऐसा रूपक करके कविने रावणका संक्षिप्त चरित्र इसके स्वभाव-वर्णनके साथ लिख दिया है। इस रूपकसे सीताहरणसे लेकर रावणवधपर्यन्तकी कथा सूचित की गयी है।

नोट—श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि 'राहु पूर्णचन्द्रको ग्रसता है और रावण अभी पूर्णचन्द्र नहीं हुआ। जब वह पूर्णचन्द्र हो जायगा तब राहुरूप श्रीरामचन्द्रजी सर्वग्रास ग्रहण लगा देंगे। जब रावण विभीषणको लात मारेगा तब पूर्णचन्द्ररूप होगा। यथा *'तब लों न दाप दल्यो दसकंधर जब लों बिभीषन लात न मार्‍यो'* सीताहरण-समय वह अर्धचन्द्ररूप था, इसीलिये छोड़ दिया गया।'

सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती के बेषा॥ ७॥
जाकें डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नीद दिन अन्न न खाहीं॥ ८॥

सो दससीस स्वानकी नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥ ९ ॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा*॥ १०॥

शब्दार्थ—'**सून**'=शून्य, सूना, एकान्त, सन्नाटा।=०=रेखा। **बीच**=अवसर, मौका, अवकाश, दूरी। **भड़िहाई** =चोरीके लिये।=घरघुसना। (नं० प०)

अर्थ—इसी बीचमें सन्नाटा देखकर रावण यतिवेषसे श्रीसीताजीके पास आया॥ ७॥ जिसके डरसे देवता-दैत्य इतना डरते हैं कि उन्हें रातको नींद नहीं पड़ती और दिनमें अन्न नहीं खाने पाते। (अर्थात् नींद और भूख दोनों जाती रहीं)॥ ८॥ वही दस सिरवाला रावण कुत्तेकी तरह इधर-उधर ताकता हुआ चोरीके लिये चला॥ ९॥ हे पक्षिस्वामी गरुड़! इस प्रकार कुमार्गमें पैर रखते ही शरीरमें तेज, बुद्धि और बल लेशमात्र नहीं रह जाते॥ १०॥

'सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती·······' इति।

टिप्पणी—१ (क) सून (शून्य) के बीचमें दशकंधरने देखा तो शून्यसे बाहर करनेके लिये यतिके वेषसे आया। [यथा—'**सीतारक्षणदक्षलक्ष्मणधनुर्लेखापि नोल्लङ्घिता।**' (हनु० ९। ९) (विरूपाक्ष-वाक्य रावण-प्रति),] '**स व्याहरद्धर्मिणि देहि भिक्षामलङ्घयल्लक्ष्मणलक्ष्मलेखाम्**' (हनु० ४। ६) अर्थात् तपस्वी बोला—हे धर्माचरण करनेवाली! मुझे भिक्षा दे। यह सुनकर ज्यों ही जानकीजीने लक्ष्मणजीके धनुषके चिह्नकी रेखाका उल्लङ्घन किया। अथवा, शून्य और बीच देखा कि दोनों भाई अब दूर निकल गये हैं तब वह आया, यथा—*'सठ सूने हरि आनेसि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही।'* (५। ९। ९) *'जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनिहि परनारी।'* (६। ३०) (ख) *'दसकंधर देखा'* का भाव कि दसों ग्रीवाओंको फेर-फेरकर देखता था—(खर्रा) (ग) आशयसे पाया जाता है कि रावण छोटा (सूक्ष्म) रूप धारण किये हुए देखता रहा था। लक्ष्मणजीका रेखा खींचना भी उसने देखा और उनका दूर निकल जाना भी (खर्रा)।

प० प० प्र०—*'दसकंधर देखा'* —इससे ज्ञात होता है कि रावण आश्रमके आसमन्तात् भागमें कहीं समीप ही गुप्त होकर बीसों नेत्रोंसे देख रहा था और बीसों कानोंसे सुन रहा था कि श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीमें क्या बातें होती हैं तथा लक्ष्मणजी किस उद्देश्यसे बाहर जाते हैं। साथ ही सभी ओर देखता है कि कोई भी आश्रमकी ओर आ तो नहीं रहा है—इत्यादि। दस मस्तिष्कोंसे विचारकर ही वहाँ यतिवेशमें आता है।

नोट—१ यतिका वेष धारण करनेके कई कारण हो सकते हैं—(१) सबका इस वेषपर विश्वास होता है। (२) रेखासे बाहर निकालना है और अन्य वेषमें सन्देह होगा, बाहर न निकलेंगी। (३) जलन्धर रावणवाले अवतारमें यतिके ही द्वारा छल करनेका शाप वृन्दाका है। उसने कहा था कि तुमने हमको यतिरूपसे छला, तुम्हारी स्त्रीको मेरा पति इसी रूपसे छलेगा।

नोट—२ महाभारत, वनपर्व, अ० २७९ मार्कण्डेय रामायणमें लिखा है कि रावण सिर मुड़ाये हुए त्रिदंडधारी संन्यासीका रूप धारण करके गया था। इससे सिद्ध होता है कि वैष्णव-सम्प्रदाय बहुत प्राचीन कालसे चला आ रहा है। यह लोगोंकी भूल है जो श्रीरामानुजाचार्य स्वामीके ही समयसे वैष्णव-सम्प्रदायको समझते हों।† पुनः, वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वह उज्ज्वल काषाय (गेरुए) वस्त्र पहने था, शिखा भी

* रा० प० में 'रह न तेज बल बुधि लवलेसा' पाठ है। अन्यमें उपर्युक्त पाठ है।

† एक पारसी जजने मुझसे प्रश्न किया था कि 'रामोपासनाको प्राचीन कैसे कहते हो। राम तो त्रेतामें हुए?' अतः इस प्रसंगमें इस सन्देहको दूर कर देनेका योग्य स्थान समझकर यहाँ कुछ इशारामात्र लिखा जाता है।

श्रीध्रुवजी और प्रह्लादजी तो सत्ययुगमें हुए, यदि रामोपासना उस समय न थी तो ये रामनाम क्यों रटते रहे, यह उपदेश नारदद्वारा उन्हें कैसे हुआ? यह तो प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ। दूसरा प्रमाण रावणका वैष्णवयतिवेष है। अर्थात् श्रीरामजीके आविर्भावके समय भी वैष्णव थे। तीसरा प्रमाण वेदोंका भी लीजिये—ऋग्वेद मण्डल ७ अनुवाक ८६ में मन्त्र रामायणप्रकरणके १४१ वें मन्त्रमें श्रीराममन्त्रोद्धारका वर्णन है। नीलकण्ठ सूरिजीने 'मन्त्ररहस्य-

थी, छाता और उपानही (जूती) धारण किये और बाएँ कंधेपर दण्ड एवं कमण्डल लिये था। संन्यासी अतिथि और उसमें ब्राह्मणके चिह्न देखकर उसका सीताजीने सत्कार किया।

यथा—'**श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही। वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू॥ परिव्राजकरूपेण वैदेहीमन्ववर्तत॥**''''''**द्विजातिवेषेण हि तं दृष्ट्वा रावणमागतम्। सर्वैरतिथिसत्कारैः पूजयामास मैथिली॥**' (वाल्मी० ३। ४६। ३-४, ३३)

प० प० प्र०—यहाँ 'यति' शब्द त्रिदण्डी संन्यासीके लिये ही प्रयुक्त है, अन्यथा 'यति' शब्दका अर्थ है 'जिसने इन्द्रियोंको जीत लिया है'—इसी अर्थसे श्रीसीताजी कपट यतिको 'गोसाई' सम्बोधन करेंगी। संन्यासके चार प्रकार हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। कुटीचकके लिये शिखा और यज्ञोपवीतका त्याग नहीं है। वह अपने ग्राममें ही अलग पर्णकुटी बनाकर उसमें जप-ध्यान-परायण होकर रहे, सन्ध्या और पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान करे तथा प्रपञ्चोपाधिका त्याग करे। बहूदकके लिये नियम है कि वह तीर्थोंमें घूमता रहे, शुक्ल भिक्षा करके पञ्चमहायज्ञादिका अनुष्ठान करे और जप-ध्यान-परायण रहे। हंस त्रिदण्ड, शिखा, उपानह धारण करते और पक्वान्न भिक्षाहार करते हैं। परमहंस एकदण्डी, शिखा, यज्ञोपवीत विहीन, पक्वान्न माधुकरी आदि भिक्षाहारी होते हैं। रावण हंस संन्यासीके रूपमें आया। सुभद्राहरणके लिये अर्जुनने भी त्रिदण्डीका ही रूप ग्रहण किया था।

टिप्पणी—२ '*जाके डर सुर असुर डेराहीं*''''' इति। (क) सुर और असुरसे स्वर्ग और पातालको गिनाया, मर्त्यलोकको न कहा, क्योंकि देवता और राक्षसोंके सामने इनकी गिनती ही क्या? यथा—'***जितेउ सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं॥***' (५। ३७) [सुर-असुरको ही कहा, क्योंकि जब एक बार नारदने उससे मनुष्योंको सताते हुए देख कहा था कि मृगपति मेढकोंको सताये तो इसमें उसका पुरुषार्थ नहीं सराहा जा सकता, तबसे वह मनुष्योंके पीछे नहीं पड़ता था, उनको उपेक्ष्य समझता था। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ '***सो दससीस स्वान की नाईं***''''' इति। (क) कुत्ता जब चोरी करने चलता है तब इधर-उधर भयसे ताकता चलता है। पुनः, (ख) श्वानकी उपमासे जनाया कि यतिके वेषसे कुत्तेका काम करता है तब इसकी विजय कब हो सकती है, यथा—'***सारदूल को स्वाँग करि कूकर की करतूति। तुलसी तापर चाहिए कीरति बिजय बिभूति॥***' (दो० ४१२) कुत्ता चोरी करे तो उसे भड़िहाई कहते हैं। [भा० ९। १०। २२ में श्रीरामजीने रावणसे ऐसा ही कहा है। यथा—'**रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः कान्तासमक्षमसतापहृता श्ववत् ते।**' अर्थात् नीच राक्षस! तुम कुत्तेकी तरह हमारी अनुपस्थितिमें हमारी प्राणप्रिया पत्नीको हर लाये। तुमने दुष्टताकी हद कर दी। तुम्हारा-सा निर्लज्ज और निन्दनीय कौन होगा?]

टिप्पणी—४ '***इमि कुपंथ पग देत रह न तेज***''''' इति। (क) 'बुद्धि, बल और तेजसे विजय प्राप्त होती है, यथा—'***बुधि बल जीति सकिय जाही सों।***' (६६) '***देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु।***' (५। १७) (ख) जैसे रावणके तेज, बल और बुद्धिका नाश हुआ, ऐसे ही कुमार्गमें पैर रखनेसे बुद्धि, बल और तेजका नाश होता है। यह कुमार्गका प्रभाव है। श्रीसीताजीकी चोरी कुमार्गपर चलना है, यथा—'***रे त्रियचोर कुमारग गामी।***' (६। ३२। ५) तेजका नाश यह कि चोरकी तरह जा रहा है—'***सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥***' (३। २८। ९) बलका नाश, यथा—'***जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनिहि परनारी॥***' (६। ३) '***रामानुज लघु रेख खँचाई। सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई॥***' (६। ३५), '***चला उताइल त्रास न थोरी।***' बुद्धि नष्ट हो गयी, क्योंकि वह समझता है कि राजकुमारोंको जीत लूँगा और पहले तो उन्हें पता ही न लगेगा। [स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि तेज और बल दोनोंको तन और बुद्धि दोनोंके साथ लेना चाहिये, कारण कि तपसे शरीर और बुद्धि दोनोंमें तेजकी वृद्धि होती है—'***बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।***' तपश्चर्यामें चोरी, असत्य, कपट, दम्भ होंगे तो वह तपस्या निष्फल होगी। और यदि तपश्चर्या करनेके

प्रकाशिका' नामक व्याख्या भी की है। अगस्त्यजीने इसी मन्त्रसे समुद्र सोख लिया था, शिवजीने कालकूट हालाहल पी लिया। स्वयं शिवजीने इसका जप करके इसके द्वारा काशीके जीवोंकी मुक्तिका वरदान श्रीरामजीसे ही पाया। प्रमाण, यथा—'श्रीरामस्य मनुं काश्यां जलापवृषभध्वजः'—(रामोत्तरतापिनी) इत्यादि।

पश्चात् कुमार्गपर पैर रखा जायगा तो तपश्चर्यासे प्राप्त तेजादिका ह्रास ही हो जायगा। असत्य, कपट, दम्भ और परदारापहरण इत्यादि पापोंसे बुद्धि भी मलिन, रजोगुणी और तमोगुणी हो जाती है। '**बुद्धिर्यस्य बलं तस्य।**' बुद्धिके नष्ट होनेपर प्रणाश तो शीघ्र ही होता है—'**बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।**' (गीता २। ६३)]

दीनजी—'**इमि**' पद प्रकट करता है कि कवि इतने उस विचारमें मग्न हो गये हैं कि मानो स्वयं ही इस नीतिको समझा रहे हैं।

प्र०—रावण राजा होकर भिक्षुक बना और चोरी करने गया, अतएव उसका तेज और बल नष्ट हो गये।

नाना बिधि करि* कथा सुहाई। राजनीति भय प्रीति देखाई॥ ११॥
कह सीता सुनु जती गोसाईं। बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं॥ १२॥
तब रावन निज रूप देखावा। भई सभय जब नाम सुनावा॥ १३॥

अर्थ—उसने अनेक प्रकारकी सुन्दर कथाएँ रचकर कहीं। राजनीति, भय और प्रेम दिखाया॥ ११॥ श्रीसीताजी बोलीं—'हे यती गोसाईं! सुनो, तुमने दुष्टके-से वचन बोले हैं'॥ १२॥ तब रावणने अपना रूप दिखाया और जब नाम सुनाया तब सीताजी डर गयीं। (अर्थात् रूप देखकर न डरी थीं, पहले सुना भी न था। अब उसको सामने देखा, अतः डर गयीं)॥ १३॥

टिप्पणी—१ *'नाना बिधि करि कथा सुहाई'*.....' इति। (क) *'सुहाई'* से शृङ्गाररसकी कथाएँ सूचित कीं। वह सीताजीके अङ्गोंकी शोभा कहने लगा, इन्द्र और अहल्याके प्रेमकी कथा कही, अहल्याने इन्द्रकी इच्छा पूर्ण की, इत्यादि, इसी प्रकार अनेक प्रकारकी कथाएँ सुनायीं।

(ख) *'राजनीति भय प्रीति देखाई'* अर्थात् ऐसा राजनीतिमें लिखा है कि स्त्रीरत्नको राजा ग्रहण करे, जो तुम हमारा वचन न मानोगी तो हम शाप दे देंगे, हम तुम्हारे ऊपर मोहित होकर आये हैं तुमपर हमारी अत्यन्त प्रीति है, हमारा तिरस्कार न करो। तुम्हारे पतिने तुमको वनमें अकेली छोड़ दिया यह नीति-विरुद्ध किया। यहाँ देव-गन्धर्वादिका भी गम्य नहीं। [यहाँ वानर, सिंह, चीते, व्याघ्र, मृग, भेड़िए, भालुकङ्क तथा मतवाले क्रूर हाथी रहते हैं, तुम अकेली रहती हो, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले क्रूर राक्षसोंका यह निवास-स्थान है, क्या तुम्हें भय नहीं लगता? (वाल्मी० ४६। २५। २९—३२)] यहाँ तुम्हारे लिये भय है। तुम राजमहलोंमें रहनेयोग्य हो, हमसे प्रेम करनेसे हम तुम्हारी रक्षा सदैव करेंगे। इत्यादि। [यह तुम्हारा श्रेष्ठरूप, यह सुकुमारता, यह उम्र और इस बीहड़ वनका निवास! इन बातोंसे मेरा मन व्यथित हो रहा है। तुम यहाँ रहनेके योग्य नहीं हो। देवी, गन्धर्वी, यक्षी कोई भी स्त्री मैंने तुम्हारे समान नहीं देखी। तुमको तो रमणीय सुगन्धयुक्त और समृद्धयुक्त नगरों और उपवनोंमें रहना चाहिये। श्रेष्ठ माला, श्रेष्ठ गन्ध और श्रेष्ठ वस्त्र तुम्हें धारण करना चाहिये। क्या तुम रुद्रों, मरुतों वा वसुओंकी देवता तो नहीं हो? इत्यादि प्रीतिके वाक्य हैं। (वाल्मी० ४६। २३—२८)] राजनीति, भय और प्रीति तीनों दिखाये। यथा—*'**भय** अरु प्रीति नीति देखराई। चले सकल चरनन्हि सिरु नाई॥'* (४। १९)

टिप्पणी—२ *'कह सीता सुनु जती गोसाईं'*.......' इति। श्रीसीताजी कितना साधुको मानती हैं, वह बात यहाँ दिखायी है कि उस दुष्टको यतिवेषमें ऐसे वचन कहते हुए सुनकर भी उसको दुष्ट न कहकर उसके वचनको *'दुष्ट की नाईं'* कहा, जैसा कोई दुष्ट बोले ऐसा तुमने कहा है। यह न कहा कि तू बड़ा दुष्ट है। *'गोसाईं'* अर्थात् यति तो इन्द्रियजित् होते हैं, उन्हें ऐसे वचन शोभा नहीं देते, उनका तो स्त्रीमें माताभाव रहना चाहिये।

टिप्पणी—३ *'तब रावण निज रूप देखावा'*.......' इति। (क) *'तब'* का भाव कि यतिरूपसे तुम हमारे वचन अयोग्य मानती हो तो लो हम अपना असली रूप दिखाते हैं, इस रूपसे हमें ग्रहण करो। हम त्रैलोक्यविजयी राजा हैं। (ख) *'भई सभय जब नाम सुनावा'* से पाया गया कि रूपसे नाम अधिक भयदायक

* ('कहि'—रा० प०, रा० गु० द्वि०)

था। यथा—*'की धौं श्रवन सुनेसि नहिं मोहीं। देखौं अति असंक सठ तोही॥'* (५। २१) सीताजी रावणका नाम सुने हुए थीं वह बड़ा दुष्ट है, अतः *'भई सभय जब नाम सुनावा।'*

कह सीता धरि धीरज गाढ़ा। आइ गएउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा॥ १४॥
जिमि हरि बधुहि छुद्र सस चाहा। भएसि कालबस निसिचरनाहा॥ १५॥
सुनत बचन दससीस रिसाना*। मन महुँ चरन बंदि सुख माना॥ १६॥

अर्थ—सीताजीने भारी धीरज धरकर कहा—रे दुष्ट! खड़ा रह, प्रभु आ गये॥ १४॥ जैसे सिंहकी स्त्रीकी तुच्छ खरगोश चाह करे, वैसे ही, हे निशाचरराज! तू कालके वश हुआ है॥ १५॥ वचन सुनते ही रावण क्रुद्ध हुआ। मनमें श्रीसीताजीके चरणोंकी वंदना करके सुख माना॥ १६॥

टिप्पणी—१ *'कह सीता धरि धीरज गाढ़ा'''* इति। (क) पहले यति मानकर बोली थीं जब रावणने नाम और रूप प्रकट किया तब डर गयीं, डरके मारे वचन नहीं निकलता, इससे बड़ा धैर्य्य धारण करके तब बोलना कहा। *'गाढ़ा'* से जनाया कि बहुत डरी हैं, इसीसे बहुत धीरज धरना पड़ा। (ख) *'आइ गएउ प्रभु'* अर्थात् तेरे मारनेके लिये वे समर्थ हैं कैसे समर्थ हैं? यह आगे कहती हैं—*'जिमि हरि बधुहि'''* अर्थात् सिंहनीकी चाह खरगोश करे तो उसकी जो दशा हो वही तेरी होगी। तू शश है, वे तेरे लिये सिंह हैं। (ग) *'रहु खल ठाढ़ा'*। देखिये, जब साधुवेष था तब *'दुष्ट की नाईं'* कहा, दुष्ट न कहा। अब जब साधुवेष छोड़ दिया तब उनको *'खल'* सम्बोधन किया।

नोट—१ वाल्मी० ३। ४७। ३३—३६, ४५—४७ में जो श्रीसीताजीने रावणसे कहा है कि श्रीरामचन्द्रजी महागिरिके समान अविचल, समुद्रके समान अक्षोभ्य, वट-वृक्षके समान आश्रितोंकी रक्षा करनेवाले, सत्यसंध, सिंहके समान नरश्रेष्ठ, जितेन्द्रिय, महाकीर्ति महाबाहु हैं, मैं उन्हींकी अनुरागिणी हूँ, वनमें शृगाल और सिंहमें जो अन्तर है, क्षुद्र नदी और समुद्रमें, कांजी और अमृतमें, शीशा-लोहे और सुवर्णमें, कीचड़ और चन्दनमें, बिल्ली और हाथीमें, कौआ और गरुड़में, मद्गु (जलकाक) और मयूरमें, गीध और हंसमें जो अन्तर है, वही तुझमें और श्रीरामजीमें है—यह सब भाव मानसके *'प्रभु'* शब्दसे सूचित कर दिये गये हैं। *'आइ गएउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा'* में वाल्मी० ३। ४७। ३७, ३९—४४ के भाव भी आ जाते हैं कि तू सियार दुर्लभ सिंहिनीकी चाह करता है, भूखे मृगशत्रु सिंहके और विषैले सर्पसे उनकी दाढ़ निकालना चाहता है, कालकूट पीकर निर्विघ्न लौट जाना चाहता है, अपनी आँखें सूईसे खुजला रहा है, छुरेको जीभसे चाट रहा है, गलेमें पत्थर बाँधकर समुद्रमें तैरना, आगको कपड़ेमें बाँधकर ले जाना और लोहेके शूलोंपर चलना चाहता है। अर्थात् मेरे ले जानेकी चाह *'प्रभु'* के रहते हुए करना ऐसा ही है, असम्भव है।

टिप्पणी—२ *'जिमि हरि बधुहि छुद्र सस चाहा'''* इति। (क) यथा—*'को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा। सिंघबधुहि जिमि ससक सिआरा॥'* (२। ६७) **'मां को धर्षयितुं शक्तो हरेर्भार्य्यां शशो यथा।'** (अ० रा०) जो वचन सीताजीने अवधमें कहे थे कि *'प्रभु सँग मोहि को चितवनिहारा।'''* उन्हींको यहाँ कहकर चरितार्थ करती हैं। [सिंहभार्या कहनेमें भाव यह है कि मैं ही तेरा नाश करनेमें समर्थ हूँ जैसे शशका नाश करना सिंहनीको सहज सुलभ है। तथापि तपश्चर्या-विनाशके भयसे मैं तेरा नाश करना नहीं चाहती हूँ। फिर भी तू यह न समझ रखे कि खरगोशके समान लङ्कारूपी बिलमें गुप्त रहनेसे तू बच जायगा। जैसे सिंह उस खरगोशको उसके परिवार-परिजनोंसहित ही मारता है वैसे ही तेरा सकुल विनाश होगा। (प० प० प्र०)]

(ख) *'निसिचरनाहा'* का भाव कि तू ही नहीं किन्तु निशिचरकुलसहित तू कालके वश हुआ है। यथा—*'तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥'* (५। ३६) *'काल-राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥'* (५। ४०)

---

* लजाना—छ०।

टिप्पणी—३ 'रावणने जानकीजीको भय दिखाया था, यथा—*'राजनीति भय प्रीति देखावा', 'भई सभय जब नाम सुनावा।'* अब जानकीजी उसको भय दिखा रही हैं—*'आइ गएउ प्रभु……'।* रावणको ये वचन सुनकर भय प्राप्त हुआ यह आगे स्पष्ट है।—*'चला गगन पथ आतुर भय रथ हाँकि न जाइ।'*

नोट—२ अ० रा० में मिलते हुए श्लोक ये हैं—**'यद्येवं भाषसे मां त्वं नाशमेष्यसि राघवात्॥' 'आगमिष्यति रामोऽपि क्षणं तिष्ठ सहानुजः। मां को धर्षयितुं शक्तो हरेर्भार्यां शशो यथा॥' 'रामबाणैर्विभिन्नस्त्वं पतिष्यसि महीतले॥'** (३। ७। ४७—४९) अर्थात् यदि तू मुझसे ऐसी बात कहेगा तो रामचन्द्रजी तुझे नष्ट कर देंगे। जरा ठहर तो श्रीरामचन्द्रजी भाईसहित अभी आते हैं। मेरे साथ कौन बलात्कार कर सकता है? क्या सिंहपत्नीके साथ खरगोश बल-प्रयोग कर सकता है? श्रीरामजीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर तू अभी-अभी धराशायी होगा।

टिप्पणी—४ *'सुनत बचन दससीस रिसाना……'* इति। श्रीरामजीकी प्रशंसा और अपनी न्यूनता सुनकर क्रोध हुआ। श्रीरामजीको *'हरि'* और इसको *'छुद्र सस'* कहा है, अतः क्रोध किया। यथा—*'आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान। परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन॥'* (५। ९) (श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि रावणने सीताजीके *'जिमि हरिबधुहि छुद्र सस चाहा'* इन वचनोंसे उनको पतिव्रता समझकर अपने मनमें उनको प्रणाम किया।)

सून बीच…चरन बंदि……' इति।

मा० हं०—इस वर्णनसे स्पष्ट दिखता है कि रावणकी उच्छृङ्खलतासे जब सीतादेवी उसपर बिगड़ीं, उस समय उनके पातिव्रत्यके तेजसे धर्षित होकर रावणने उनको मानसिक प्रणाम किया। वह प्रणाम मानसिक-शुद्धिका द्योतक नहीं है। *डाँटे पै नव नीच'* इस प्रकारका यह नमस्कार था। यदि वह सच्चे सत्त्वशुद्धिसे होता तो उसकी सत्त्वशुद्धि दूसरे ही क्षणमें उसे छोड़ चली न जाती। वह नमस्कार मानभंगकी लज्जासे किया हुआ था, न कि भक्ति अथवा पश्चात्तापसे। २—यदि यह प्रणाम सच्चे पश्चात्तापके आँचका होता तो बादमें रावण मित्र ही स्वरूपमें दिखायी देता। मानभंगकी लज्जाके स्थानमें अपने पूर्व पापोंकी लज्जा यदि उसे मालूम हुई होती तो भगवती सीताकी शरणमें जाकर उसने उनसे क्षमा ही माँगी होती; परन्तु गोसाईंजी कहते हैं—*'क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ……'।* इस दोहेसे रावणकी स्थिति इतनी स्पष्ट हो रही है कि शङ्काकी जगह ही नहीं रह सकती। दोहेमेंके *'क्रोध'* और *'भय'* शब्द बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। मनके सकाम रहे बिना ये विकार कभी भी उत्पन्न नहीं होते ऐसा सिद्धान्त है। अर्थात् यह निर्विवाद सिद्ध है कि रावणके मनमें पश्चात्ताप और भक्तिका लेशमात्र भी न था, दूसरे प्रकारसे देखनेपर भी रावणका पक्ष हीन ही दिखता है। यदि मान लिया जाय कि उसने सीताहरण भक्तिपुरस्सर किया, तो क्रोध और भयकी उपपत्ति कैसे जम सकती? भक्तिकी भावनासे उसने सीताहरण किया होता तो उसका मन बड़ा ही शान्त रहता, क्योंकि भक्तिमें उद्वेग पैदा हो ही नहीं सकता। पश्चात् लङ्कामें भी उसने सीतादेवीको फुसलानेका निःसीम प्रयत्न किया। इस प्रयत्नकी मंजिल आखिर यहाँतक पहुँची कि *'सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना……'।* (सुं०) पश्चात्ताप और भक्तिकी अल्प-सी रेखा भी यदि रावणके मनको स्पर्श कर निकली रहती तो ऐसी गलकटियोंकी वृत्ति उसके मनको क्या छू भी सकती थी! अन्ततक भी ऐसी लहरने उसके मनको स्पर्श नहीं किया। उसकी मृत्यु केवल बदला लेनेकी भावनामें ही हुई। क्या *'कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी'* इस उक्तिसे और भी कोई बात स्थापित हो सकती है? स्वामीजीका रावण इस प्रकारका हुआ है। रज और तमका तो वह केवल पुतला है। सत्त्वगुण क्या चीज है वह जानता ही नहीं। हमारे मतसे वह बाहर विषयी, मानी, खूनी और निर्लज्ज दिखता है—मंदोदरीका शोक रावणमरणपर देखिये।

प० प० प्र०—*'सुनत बचन दससीस रिसाना। मन महुँ चरन बंदि सुख माना॥'* रावणके इस परस्पर विरुद्ध कृतिके हेतुके विषयमें टीकाकारोंमें बहुत मतभेद है। (१) तथापि दोहा २३ की चौपाईमें रावणने जो निश्चय

किया कि *'तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ॥'* इस पूर्वनिश्चित कार्यप्रणालीमें यद्यपि फर्क हो गया है तो भी श्रीरामजीसे कर्म, वचन और मनसे वैर करनेके निश्चयमें लेशमात्र फर्क नहीं पड़ा। यह निश्चय रावणने अन्ततक निबाहा है। (२) फिर इधर तो विरोध कहाँ है? इस शङ्काका समाधान यह है कि इस स्थानमें श्रीरामजीसे विरोध ही है। इसने रामजीसे वैर करनेका निश्चय ठाना है न कि सीताजीसे। रावणके मनमें शङ्का पैदा हो गयी थी कि 'राम' नृपपुत्र ही हैं कि भगवान् हैं। इस शङ्काका निरसन सीताजीके निर्भय और भयकारी उत्तरसे हो गया और *'प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ'* यह अपना कार्य सिद्ध होगा ऐसा जानकर रावणको आनन्द हो गया। *'आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सो अवतरिहि मोर यह माया।'* श्रीसीताजी प्राकृत स्त्री नहीं हैं, प्रत्युत आदिशक्ति असुरमर्दिनी भगवन्माया ही हैं, ऐसा उसने जान लिया और मनमें चरणोंका वन्दन किया। (३) इसपर यह शङ्का उठेगी कि फिर क्रोध क्यों और सुन्दरकाण्डमें तलवारसे सीताजीको मारनेको कैसे तैयार हुआ? यह केवल राम-विरोधके लिये ही है, सीताजीको मारनेकी इच्छा रावणको कभी हुई ही नहीं। (४) रावणने सीताजीके साथ जो विरोध किया है वह केवल रामविरोधांगभूत है। रावण सीताजीके ऊपर काममोहित हुआ ही नहीं। यदि वह अन्तःकरणसे सीताजीपर काम-बुद्धिसे मोहित हो जाता तो एक महीनेकी अवधि कैसे दे देता? प्रतिदिन सीताजीके पास आकर अनुनय, विनय, भय, लोभ, दिखाये बिना कैसे रह सकता? इसको रोकनेवाला कौन था? (५) त्रिजटाके समान रामप्रेमी स्त्रीको सीताजीके रक्षणमें जानबूझकर क्यों नियुक्त कर देता? (वाल्मी० रा० देखिये) किसी भी रामायणमें ऐसा उल्लेख नहीं है कि रावण सीताजीको वश करनेके लिये सुन्दरकाण्डके प्रसङ्गके पश्चात् पुनः गया है। (६) जिन राक्षसियोंको सीताको भय दिखाकर वश करनेको कहा था उनको ऐसा करना छोड़ देनेपर भी रावणने कुछ दण्ड नहीं दिया। (७) राम महती वानरसेनाके साथ समुद्र पार आये हैं और समुद्रबन्धनका विचार कर रहे हैं, इतना दूतोंके मुखसे जान लेनेपर जब सेतुबंधनकार्य चार-पाँच दिन अहोरात्र चलता रहा, वह भी बड़ी धूमधामसे, तब उसने सेतुके विनाशका प्रयत्न क्यों नहीं किया? (८) रामचन्द्रजीके प्रत्येक कृत्यपर दूतोंसे समाचार मिलते ही थे। (९) इतने बलवान् शत्रुको जिसका बल रावणने अपनी आँखोंसे जनकपुरीमें देखा था, जिस शत्रुका परशुरामजीको परास्त करना मारीचसे सुना है और जिसके सम्बन्धमें रावणने *'खरदूषन मोहिं सम बलवंता। तिन्हहिं को मारइ बिनु भगवंता॥'* ऐसा स्वयं ही निश्चय किया है, रावणने बिना विरोध किये लङ्कामें कैसे आने दिया? (१०) मायावी अधर्म युद्ध करनेवाले रावणने लक्ष्मणजीको जीवित करनेके लिये सुषेणको ले जाते समय विरोध क्यों न किया? जिस लङ्कामें *'मसक समान रूप'* कपि भी सहज गुप्तरीतिसे जानेमें असमर्थ था, उस लङ्कामें सुषेणको बिना विरोध ले जाना और फिरसे वापिस लाना कैसे सम्भव था? (११) लक्ष्मणजीके मूर्च्छामुक्त होनेतक और रामजीके नागपाश मुक्त होनेतक युद्ध बन्द रखनेमें क्या लाभ रावणको? (१२) इस नमनमें रावणके अन्तरङ्गमें रामभक्ति थी ऐसा कहनेका आधार बिल्कुल नहीं है, *'होइहि भजनु न तामस देहा'* यह तो रावण स्वयं जानता ही है। (१३) राम-विरोधका मुख्य साधन सीताजीने विरोध नहीं किया, उसको शापाग्निसे भस्म नहीं किया, इससे ही उसे सुख-आनन्द हो गया और इस कृतज्ञता बुद्धिसे ही उसने मानस नमन किया है। २३ (५) और दो० २३ के अनन्तरकी पाँच चौपाइयोंकी टीका देखिये।

नोट—३ पद्मपुराण उत्तरखण्डमें कहा है कि रावणने अपने वधकी इच्छासे श्रीरामजीकी पत्नी सीताजीको हर लिया।""""उसने सीताजीको अशोकवाटिकामें रखा और श्रीरामबाणसे मृत्युकी अभिलाषा रखकर वह महलमें गया। यथा—'**जहार सीतां रामस्य भार्यां स्ववधकाङ्क्षया। ह्रियमाणां तु तां दृष्ट्वा जटायुर्गृध्रराड् बली॥ रामस्य सौहृदात्तत्र युयुधे तेन रक्षसा। तं हत्वा बाहुवीर्येण रावणः शत्रुवारणः॥ प्रविवेश पुरीं लङ्कां राक्षसैर्बहुभिर्वृताम्। अशोकवनिकामध्ये निक्षिप्य जनकात्मजाम्॥ निधनं रामबाणेन काङ्क्षन्स्वगृहमाविशत्।**' (प० पु० उ० ख० स० अ० २४२। ५५—५७)

दोहा—क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ।
चला गगन पथ आतुर भय रथ हाँकि न जाइ॥ २८॥

अर्थ—तब क्रोधमें भरकर रावणने उन्हें रथमें बिठा लिया और आकाश-मार्गसे शीघ्रता और व्याकुलताके साथ चला। डरके मारे (उससे) रथ हाँका नहीं जाता॥ २८॥

नोट—१ *'क्रोधवंत'''* इति। श्रीसीताजीके वचन सुनकर उसे बहुत क्रोध हुआ; क्योंकि उसको खरगोश और श्रीरामजीको सिंह कहा था। अ० रा० में भी ऐसा ही कहा है—**'इति सीतावचः श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः।'** (३। ७। ४९) **'क्रोधमूर्च्छितः'** ही क्रोधवंत है। श्रीप्रज्ञानानन्दस्वामी उपर्युक्त अपने लेखके समर्थनमें क्रोधका कारण यह कहते हैं कि—(१) रावणको श्रीसीताजीका स्पर्श करनेकी इच्छा न होते हुए भी उनका स्पर्श करना पड़ा, इसीसे क्रोध हुआ। रजोगुणी और तमोगुणी लोग अपनी माताको वंदन भी करते हैं और अपनी इच्छाके अनुकूल न चलनेपर उसपर क्रोध भी करते हैं। (२) रावण तो ध्येयवादी ही रहा। ध्येयसिद्धिके लिये परशुरामजीने माताको भी मार डाला और भरतजीने माताको दुरुत्तर दिया, प्रह्लाद पिताको वंदन तो करता था तथापि विरोध भी करता रहा। भीष्माचार्य और अर्जुन दोनों महामहाभागवतोंका युद्ध हुआ। वृत्रासुर और सहस्रार्जुन ब्रह्मनिष्ठ होते हुए भी अत्याचार और दुराचार करते रहे। (३) जहाँ क्रोध देख पड़ता है वहाँ वह बाह्य है या आन्तरिक इसका जानना सुलभ नहीं है। (४) *'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु', 'कर्म कि होहिं सरूपहिं चीन्हे'* इत्यादि वचन सिद्धान्तरूप नहीं हैं। ये केवल पक्षाभिनिवेशजनित अनुमान हैं।

टिप्पणी—१ किस प्रकार रथमें बिठाया इसमें मतभेद है, इससे पूज्य कवि सबके मतकी रक्षा करनेके लिये केवल रथमें बिठाना लिखते हैं। *'भय रथ हाँकि न जाइ,'* यथा—*'कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड़ परै न पाऊ'।* इससे जनाया कि सीताजीके वचन *'आइ गएउ प्रभु'''* इत्यादि सुनकर उसे डर व्याप्त हो गया, उसका शरीर शिथिल पड़ गया, इसीसे हाथ काम नहीं देते। [प० प० प्र० के मतानुसार भयके कारण ये हैं कि —(१) सीताजी रथसे कूदकर आत्महत्या न कर लें। (२) पातिव्रत्य तेज या योगबलसे अपनी देह भस्म न कर दें। (३) लङ्कातक पहुँचते राम-लक्ष्मणसे युद्धका अनवसर प्रसङ्ग न आ जाय। (४) राम-विरोधका मुख्य साधन सीताजी हैं। यह साधन नष्ट न हो जाय। श्रीरामजीके साथ युद्ध करने या मरनेका भय नहीं है। यथा—*'परम प्रबल रिपु सीस पर तद्यपि सोच न त्रास।'* (६। १०) क्योंकि वह निश्चय कर चुका है कि *'प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊ'*] अ० रा० में लिखा है कि श्रीसीताजीके रुदन करनेसे रामके आनेकी आशङ्का रावणको हो रही है—**'इत्येवं क्रोशमानां तां रामागमनशङ्कया।'** (३। ७। ६१)

टिप्पणी—२ रथ कहाँ था? यहाँ मायामय रथ प्रकट कर लिया, प्रथम इसका होना नहीं पाया जाता जब वह सीताजीके पास आकर बातें कर रहा था। [मारीचके पास जाते समय कहा है कि—*'चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच सिंधु तट जहवाँ॥'* (२३। ७) सम्भवतः इसी रथपर *'तेहि बन निकट दसानन गयऊ। तब मारीच कपट मृग भयऊ॥'* वहीं वह रथ छोड़कर वह यतिके वेषसे श्रीसीताजीके पास आया। रथ आश्रमतक नहीं लाया, इसीसे तुरत मायामय रथ उसने बना लिया। यथा—**'स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः। प्रत्यदृश्यत हेमाङ्गो रावणस्य महारथः॥'** (वाल्मी० ३। ४९। १९) अर्थात् वहाँ मायाका बना हुआ दिव्य गधोंका रथ और गधोंके शब्दसे युक्त सुवर्णके पहियोंवाला रावणका बड़ा भारी रथ दिखायी पड़ा। इसीके अनुसार यह भाव है। यह भी हो सकता है कि उसका रथ जिसपर वह वनके निकट चढ़कर आया था वह भी दिव्य रथ था, वह अदृश्य रहा, उसके स्मरण करते ही वही रथ आश्रमपर आ गया। प्रज्ञानानन्दजी *'लीन्हिसि रथ बैठाइ'* का अर्थ करते हैं कि 'ले गया और रथमें बिठा लिया'। वे कहते हैं कि 'यह वही रथ है जिसपर वह मारीचके यहाँ और वहाँसे पंचवटीतक आया। रथ अन्तर्धान होनेवाला नहीं था। ऐसा होता तो जटायुको देखनेपर अन्तर्धान हो जाता।']

नोट—२ ☞हनुमन्नाटकके अनुसार सीताहरण चैत्र शुक्ल ८ शुक्रवारको मध्याह्नकालमें हुआ, यथा—**'अर्धरात्रे दिनस्यार्धे अर्धचन्द्रेऽर्धभास्करे। रावणेन हृता सीताऽकृष्णपक्षे सिताष्टमी॥'** (हनु० ५। १४) अर्थात् देवदिनके आधे अर्थात् चैत्रमासमें, अर्धरात्रे अर्थात् पितरोंकी आधी रातमें, अकृष्ण अर्थात् शुक्लपक्षमें,

अर्धचन्द्र अर्थात् जब कि अष्टकलायुक्त चन्द्रमा होता है तब, अर्धभास्करे अर्थात् मध्याह्न समयमें, सिताष्टमी अर्थात् शुक्रवारसहित अष्टमीके दिन रावणने सीताहरण किया। पुनः, यथा—'**चैत्रमासे सिताष्टम्यां मुहूर्ते वृन्दसंज्ञके। राघवस्य प्रियां सीतां जहार दशकन्धरः**' (वाराह पुराण) उस समय विन्दयोग था। (प्र० सं०)

वाल्मीकीयमें गृध्रराज जटायुने श्रीरामजीसे कहा है कि जिस मुहूर्तमें रावणने सीताहरण किया है उस मुहूर्तमें भूली हुई वस्तुको उसका स्वामी शीघ्र ही पाता है। वह विन्दनामक मुहूर्त था। यथा—'**येन याति मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः। विप्रणष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते॥ विन्दोनाम मुहूर्तोऽसौ न च काकुत्स्थ सोऽबुधत्।**' (वाल्मी० ३। ६८। १२-१३) मास और तिथियोंके सम्बन्धमें ग्रन्थोंमें मतभेद है। अग्निवेश रामायणमें तिथियोंका ही प्रायः उल्लेख है। यमने इनका उल्लेख समय-समयपर प्रसंग आनेपर किया है। प० पु० पातालखंड अ० ३६ में माघ कृष्णा अष्टमी वृन्दनामक मुहूर्तमें सीताहरणका होना कहा है। यथा—'**आगतो राक्षसस्तां तु हर्तुं पापविपाकतः। ततो माघासिताष्टम्यां मुहूर्ते वृन्दसंज्ञिते॥ राघवाभ्यां बिना सीतां जहार दशकन्धरः॥**……'(२३-२४) प० पु० में इसी जगह सम्पातीसे वानरोंके विलाप, हनुमान्‌जीके समुद्रोल्लंघन, सीताजीका दर्शन, अक्ष और मेघनादसे युद्ध, लङ्कादहन करके लौटने और श्रीरामजीको समाचार देने इत्यादिसे लेकर रामराज्याभिषेकतकको सब तिथियाँ दी हैं जो यत्र-तत्र मानस-पीयूषमें दी गयी हैं। स्कन्दपुराणमें भी प्रायः यही सब श्लोक ब्रह्मखण्डान्तर्गत धर्मारण्यमाहात्म्यके अ० ३० में ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। इन दोनोंमें 'वृंद' नाम दिया है और वाल्मीकीयमें 'विन्द' नाम है, साथ ही उस मुहूर्तका फल भी जटायुने बताया है कि इस मुहूर्तमें खोई हुई वस्तुके लेनेवालेका नाश होता है और वह वस्तु शीघ्र लौटकर मिल जाती है। वाल्मीकीयकी तिथियाँ प्रायः प० पु० से मिलती हैं।

श्रीसीताहरण-रहस्य

भगवान्‌के चरित्रोंके रहस्य कौन जान सकता है? वही कुछ जान सकता है जिसे वे कृपा करके जना दें—'*सो जानइ जेहि देहु जनाई*' नहीं तो किसीका भी सामर्थ्य नहीं जो उसे जान ले। जान ले तो वह रहस्य ही क्या हुआ? श्रीसीताजी आदि-शक्ति हैं, श्रीरामजीसे उनका वियोग कभी किसी कालमें नहीं है, दोनों अभिन्न हैं, एक ही होते हुए भक्तोंके लिये युगल स्वरूपसे विराजमान हैं—'*गिरा अरथ जल बीचि सम देखियत (कहियत) भिन्न न भिन्न।*' माधुर्यमें पति-पत्नीभावसे श्रीरामजीको वे अतिशय प्रिय हैं। ऐसी परम सतीशिरोमणिके हरणमें क्या रहस्य है, यह तो यथार्थ उस नरनाट्यके करनेवाले ही जानें। देखिये जिनके एक सींकके बाणसे पीछा किये जानेपर इन्द्रपुत्र जयन्त त्रैलोक्यमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि किसीकी भी शरण न पा सका, क्या वे रावणको घर बैठे नहीं मार सकते थे? अवश्य मार सकते थे। पर ऐसा होता तो आज हमको उनके चरित्र-गान करके भव पार होनेका अवसर कहाँसे मिलता? उनके दिव्य गुणों, करुणा, भक्तवत्सलता इत्यादिको हम कैसे विश्वासपूर्वक स्मरण कर-करके अपनेको कृतार्थ समझ सकते?

स्मरण रहे कि यहाँ जो कुछ लिखा जा रहा है वह प्रधानतया धार्मिक वा भक्तिभावसे ही लिखा जा रहा है।

१—यह चरित जान-बूझकर किया गया है। गोस्वामीजीने तो इसे स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया है और वाल्मीकीयसे भी स्पष्ट है कि श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंने जान लिया था कि यह कपट-मृग मारीच ही है। यथा—'*तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुरकाज सँवारन॥*'

यदि जान-बूझकर ऐसा न हुआ तो क्या रावण परम-सती-शिरोमणियोंकी भी सिरताज श्रीवैदेहीजीको कभी हाथ लगा सकता था? अनुसूयाजीसे त्रिदेवकी न चली, तब इनके आगे रावणकी क्या चलती? वाल्मी० ५। २२ में श्रीजानकीजीने रावणसे यह स्पष्ट कहा है कि तुझे भस्म कर देनेकी शक्ति मुझमें है, तो भी मैं तुझे भस्म नहीं करती, क्योंकि श्रीरामजीकी आज्ञा नहीं है और ऐसा करनेसे मेरी तपस्या भङ्ग होगी। यथा—'**असन्देशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्। न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा॥ नापहर्तुमहं शक्या**

तस्य रामस्य धीमतः। विधिस्तव वधार्थाय विहितो नात्र संशयः॥' (वाल्मी० ५। २२। २०-२१) यह बात न होती तो क्या जो सीताजी हनुमान्‌जीकी पूँछमें अग्नि लगाये जानेपर अग्निको '**शीतो भव हनुमतः**' यह आज्ञा देकर हनुमान्‌जीके लिये अग्निको शीतल कर देनेको समर्थ थीं, क्या वे रावणको भस्म कर देनेको समर्थ न थीं? अवश्य समर्थ थीं।

यह सीताहरणचरित्र ही हमारी समझमें वाल्मीकि रामायणमें दिये हुए परमधामयात्रा-चरितका बीज है। इसीके बलपर १० हजार वर्षसे अधिक राज्य करके अन्तमें श्रीसीताजीके त्यागकी लीला करके अवधवासियोंपर या यों कहिये कि समस्त प्रजापर अपना परम ममत्व दिखाया है—'*अति प्रिय मोहि यहाँके बासी*', '*ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी।*' (१। १५, १। ३) देखिये। यह लीला नहीं तो और क्या है? कि १०००० वर्षतक कोई चर्चा नहीं और जब परमधामयात्राकी इच्छा हुई, तब एक धोबीद्वारा उनके विषयमें अपवाद-सुना जाता है और उसीपर उनका त्याग किया जाता है।

२—पूज्य श्री पं० रामवल्लभाशरणजी (जानकीघाट, श्रीअयोध्याजी) ने इस विषयमें दो रहस्य बताये थे जो यहाँ लिखे जाते हैं। (१) रावणने देव, यक्ष, गन्धर्वादिकी कन्याओंको जबरदस्ती ला-लाकर उनसे विवाह किया। कितनी ही देवियाँ उसके यहाँ कैद थीं—अपने-अपने घरोंकी यह शोचनीय दशा देवताओंने आकर प्रभुसे बार-बार कही। इन देवियोंकी दारुण विपत्ति सुनकर करुणावश महारानीजीने उनके संतोष एवं सान्त्वनाके लिये स्वयं रावणके यहाँ कैद होना स्वीकार किया। (उन्होंने अपने प्रतिबिंबद्वारा यह देवकार्य किया।) (२) सुतीक्ष्णजीके आश्रमसे चलते समय महारानीजीने प्रभुसे कहा कि आपने दण्डकारण्यके ऋषियोंसे उनकी रक्षाके लिये निशिचरवधकी प्रतिज्ञा की है और अब दण्डकवनको चल रहे हैं, मुझे वहाँका जाना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि बिना अपराधके दण्डकारण्याश्रित राक्षसोंको मारना योग्य नहीं, यह पाप है। बिना अपराधके मारनेवाले वीरकी लोकमें प्रशंसा नहीं होती। यथा— '**प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्यवासिनाम्। ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम्॥ बुद्धिर्वैरं विना हन्तुं राक्षसान्दण्डकाश्रितान्। अपराधं विना हन्तुं लोको वीर न कामये (मंस्यते)॥**' (वाल्मी० ३। ९। १०, २५) यद्यपि प्रभुने उस समय यही उत्तर दिया कि 'मुझे सत्य सदा प्रिय है, मैं जो प्रतिज्ञा कर चुका उसे नहीं छोड़ सकता। मैं अवश्य राक्षसोंका वध करके मुनियोंको अभय करूँगा', तथापि सीताहरणमें यह रहस्य कहा जा सकता है कि रावणको सापराध ठहरानेके लिये यह चरित हुआ। और, इस प्रकार '*बिनु अपराध प्रभु हतहिं न काहू॥ जो अपराध भगत कर करई। रामरोष पावक सो जरई॥*' इस वाक्यको भी चरितार्थ कर दिखाया है।

इस प्रकार लोक-वेद दोनोंसे उनका यह कार्य (रावण-वध) अनिन्द्य वा निर्दोष हो गया और इससे प्रियाका भी मान्य रहा।

३—यह भाव तो ऐश्वर्य और भक्तिभावसे हुए। अब एक और भाव जो एक पतिव्रताशिरोमणि (पं० श्रीराजारामजीकी धर्मपत्नी) ने सीताहरणके सम्बन्धमें कहा है उसे उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—'*पति पर आयसु जनि करहु अस परिणाम बिचार। 'पतिदासी' मृगछालहित सिय दुख सही अपार॥*' अर्थात् यह बात पतिव्रताके धर्मके प्रतिकूल है कि वह पतिको आज्ञा दे। श्रीपतिदासीजी पतिव्रताओंको सीताहरणका उदाहरण देकर उपदेश देती हैं कि पतिको कभी भूलकर आज्ञा न देना। वे अपने इस दोहेकी टिप्पणीमें लिखती हैं कि 'पतिपर आज्ञा करना बिल्कुल मना है यथा—'**सर्पिर्लवणतैलादिक्षयेऽपि च पतिव्रता। पतिं नास्ति न ब्रूयादायासेषु न योजयेत्॥**' (काशीखण्ड) अर्थात् घी, लोन, तेलके न रहनेपर भी पतिव्रता स्त्री पतिसे लानेको न कहे। सीताने पतिको मृगचर्म लानेकी आज्ञा दी, यथा—'*आनहु चर्म कहति बैदेही।*' यहाँ यह शङ्का होती है कि सीताजी तो पतिव्रताशिरोमणि हैं, इनके तो नामस्मरण करनेसे प्राकृत स्त्रियाँ पातिव्रत्यका पालन करती हैं, यथा—'*सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं। ……*', तब उन सीताजीने जान-बूझकर कैसे आज्ञा दी, जिसका परिणाम उनको भोगना पड़ा? इसका समाधान यह है कि श्रीरामजीने पुरुषोंके उपदेशके बहुत चरित किये, इसी प्रकार यह चरित स्त्रियोंके उपदेशके लिये हुआ है। इसमें उपदेश यह है कि जब किंचित् आज्ञा करनेसे साक्षात् श्रीजानकीजीको ऐसा दण्ड सहना पड़ा, तब जो स्त्रियाँ पतिका अनेक

प्रकारसे निरादर करती हैं उनकी क्या दशा होगी? इसपर पुनः बहिनें यह प्रश्न करेंगी कि स्त्रियाँ बाहर नहीं निकलतीं और गृहस्थीकी अनेक वस्तुओंका एकत्र करना पतिके अधीन है, तब बिना कहे कार्य कैसे होगा? उत्तर यह है कि उपर्युक्त श्लोकका अभिप्राय यह नहीं है कि पतिको सूचना न दी जाय, किंतु 'ले आओ, ला दो' ऐसा न कहा जाय। यदि आवश्यकता हो तो इस रीतिसे कहा जाय कि अमुक वस्तु नहीं है। अभिप्राय दोनोंका एक ही है, पर इस प्रकार कहनेमें आज्ञा नहीं पायी जाती।'—(अप्रकाशित)

यही भाव स्वयं श्रीसीताजीके इन शब्दोंसे ध्वनित हो रहा है—**'कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्। वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम॥'**(वाल्मी० ३। ४३। २१) अर्थात् अपनी इच्छाकी पूर्तिके लिये जो मैं आपसे यह कह रही हूँ, यह कठोर है और स्त्रियोंके लिये अनुचित है, यह मैं जानती हूँ, तथापि इस मृगको देखकर मुझे बड़ा विस्मय उत्पन्न हो गया, अतः आप इसे ले आवें—**'आनयैनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति॥'** (वाल्मी० ३। ४३। १०)

इसी सम्बन्धमें यहाँ एक और बात यह भी लिखनी उचित जान पड़ती है कि आज्ञा देनेमें तो महारानीको वाल्मीकिके अनुसार बहुत सङ्कोच हुआ है, परंतु इससे भी अधिक गर्हित कर्म महारानीने लाचार होकर पतिकी आज्ञाके उल्लङ्घनका किया है। वनगमनके समय श्रीरघुनाथजीकी आज्ञा थी कि घर रहकर माताओंकी सेवा करो परंतु महारानीने देखा कि घर रहनेमें वियोगदुःख सहा न जायगा, प्राण त्याग करना पड़ेगा और आज्ञा न मानकर साथ रहकर आज्ञाके उल्लङ्घनका पाप भुगतना पड़ेगा। इन दोनोंमें वियोग अधिक दुःखदायी प्रतीत हुआ और संयोगके साथ आज्ञा न माननेके पापका परिणाम सहन करना उन्हें कम कठिन जँचा। श्रीरघुनाथजीने ध्वनिसे दोनों बातें श्रीजीके सामने रखीं और उनपर छोड़ दिया कि जो चाहें अङ्गीकार कर लें। यथा—*'आपन मोर नीक जो चहहू। बचन हमार मानि गृह रहहू॥'*

यहाँ *'नीक'* में भाव यह है कि न तुम्हारा हरण होगा न आगे झंझट बढ़ेगा—*'कहौं सुभाव सपथ सत मोही। सुमुखि मातु हित राखौं तोही॥ गुरु श्रुति संमत धरम फल पाइअ बिनहि कलेस। हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस॥'* (२। ६१) *'……जौं हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुखु पाउब परिनामा॥' '…… नर अहार रजनीचर चरहीं। कपट बेष बिधि कोटिक धरहीं ……॥', 'सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि। सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होइ हित हानि॥'* (६३)

इन पदोंसे यह स्पष्ट होता है कि भगवान्‌ने भावी सङ्कटपर विचार करके महारानीको चेतावनी दी कि प्रेमके वश होकर हठ करोगी तो अन्तमें बड़ा दुःख उठाना पड़ेगा—केवल रावणद्वारा हरण और लङ्कावास ही नहीं बल्कि दस हजार वर्ष पीछे अपयशके परिणामसे वनवास भी करना पड़ेगा और चिरवियोग दुःख उठाना पड़ेगा। इतनी भारी चेतावनीपर भी महारानीजीने सद्यः वियोग-जात दुःख उठाना कबूल नहीं किया और पति-आज्ञाका उल्लङ्घन किया और उसके परिणामको जो स्वामीने बता रखा था सच्चे सत्याग्रहीकी तरह सहना स्वीकार कर लिया। सीताहरण-चरितके व्याजसे महारानीजीको इस तरह पापका कितना घोर दण्ड दिलाया गया यह सोचकर कलेजा काँप उठता है। हरण और केवल दस-ग्यारह महीनेतकका ही वियोग नहीं बल्कि पार्थिव जीवनके अन्तिम दस-ग्यारह सौ वर्षोंका चिरवियोग जिसमें कि न केवल पतिको आज्ञा थी, बल्कि राजाकी ओरसे वनवासका निरपराध दण्ड था।

४—और भी भाव सुनिये। भुशुण्डिजी, शिवजी आदिने मायाका हरण, माया-सीताका हरण होना स्पष्ट कहा है। यही बात गोस्वामीजीने भी स्पष्ट शब्दोंमें कही है—*'पुनि माया सीता कर हरना', 'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता।'*

श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि ऋषिकन्या वेदवतीने प्रभुकी प्राप्तिके लिये अखण्ड तप किया उसको देख रावणने जबरदस्ती उसे पकड़कर लङ्का ले जाना चाहा। उस समय उसने शाप दिया कि तेरा नाश मेरे द्वारा होगा यह कहकर उसने अपना वह शरीर छोड़ दिया। वही यहाँ सीताजीका प्रतिबिंब है। उसीमें सीताजीका आवेश हुआ। (वेदवतीकी कथा वाल्मीकीय उत्तरकाण्डमें है। वेदवतीका शाप सत्य करना है और उसकी तपस्याका फल भी देना है। इन बातोंकी पूर्त्तिके लिये सीताहरण-चरित रचा गया।)

दोहा २३ (८) में कहा गया है कि रावणने कपट किया। उसने प्रभुको कपटका मृग दिया अतः प्रभुने उसे कपटकी सीता दी। जैसेको जैसा! परम कौतुकी कृपाला! रावण छलने आया और स्वयं छला गया। वास्तवमें हमारे प्रोफेसर श्रीरामदासजी गौड़ने जैसा कहा है वैसा ही है कि '**मायामानुषरूपिणौ**' दोनों भाई, मायाकी सीता, मायामृग, मायाका संन्यासी, मायाका रथ, मायाका विलाप और विरह-कथा सभी कुछ दोनों ओरसे मायाका खेल था।

इसमें महामाया और ईश्वरी मायाके साथ राक्षसी मायाकी लीला हो रही है, ईश्वरी अथवा दैवीमाया तामसी किंवा राक्षसी मायासे खेल रही है। मूर्ख राक्षस खुश है कि मेरी माया चल गयी और इन मनुष्योंको मैंने मोहित करके स्त्रीहरण कर लिया, परंतु वह यह नहीं जानता कि मैं स्वयं ईश्वरी माया-जालमें बेतरह फँस गया हूँ और मेरी बुद्धिका हरण कबका हो चुका है। जब लक्ष्मणजीको ही परतमकी मायाका पता नहीं है तब देवदनुजादिकी तो बात ही क्या है—*'सिव बिरंचि कहँ मोहइ को है बपुरा आन?'*

☞ (माया-सीताका हरण होनेसे 'सीताहरण' सम्बन्धी शङ्का ही निर्मूल हो जाती है।)

५—श्रीसीताहरणका एक रहस्य यह भी हो सकता है जिसका बीज इस काण्डके आदिमें बो दिया है कि जयन्तने किंचित् सीतापराध किया, उसपर सींकास्त्र चलाकर प्रभुने दिखाया था कि देवराजपुत्रको त्रैलोक्यमें बचनेकी जगह न मिली तब सीताहरण करनेवालेको त्रैलोक्यमें कब कहीं शरण मिल सकती है। सीताहरण होनेसे देवताओंको पूर्ण विश्वास हो जायगा कि अब रावण मारा गया इसमें संदेह नहीं और निशाचरोंको भय होगा कि *'नहिं निसिचर कुल केर उबारा।'*

६—एक और रहस्य यह भी कहा जाता है कि रावण ब्राह्मण है और ब्राह्मणका वध करनेसे ब्रह्महत्या लगती है। इन्द्रको वृत्रासुरके वधसे घोर ब्रह्महत्या लगी थी। पर धर्मशास्त्रकी आज्ञा यह भी है कि आततायीका वध करना उचित है। इसमें दोष नहीं। परस्त्रीहरण करनेवाला आततायी है। अतः स्त्रीहरणद्वारा इस दोषका भी निवारण हुआ।* (प्र० सं०)

श्रीप्रज्ञानानन्दस्वामीजी—श्रीसीताहरण *'मैं कछु करबि ललित नर लीला।'* (२४। १) की 'कुछ ललित लीला' मेंसे एक प्रमुख रामचरित्रलीला है। *'सीताहरण हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि सकै न कोई॥'* सीता और राम तो बारि-बीचि इव अभिन्न ही हैं, तब सीताहरण हुआ कहना भी साहस है। और, जब श्रीरामजीका विरह-विलाप देखकर भगवती सतीजी भी भ्रमित हो गयीं तब सीताहरण नहीं हुआ, ऐसा कहना भी साहस ही है। तथापि जो कुछ समझमें आया उसे लिखता हूँ—

(१) श्रीसीताजी आदिशक्ति हैं, आदि-माया हैं। मानसके अनुसार तो जनकनन्दिनीजीका हरण हुआ ही नहीं, उनके प्रतिबिंब अर्थात् प्रतिकृतिका ही हरण हुआ है। जैसे महायोगी एक ही समय स्वदेहाभिन्न अनेक देह धारण कर सकते हैं और मूल देहमें प्राप्त किया हुआ ज्ञान, अनुभव, स्मरण इत्यादि सब असली देहके समान ही होते हैं, वैसा ही यहाँ हुआ है, जैसे चूड़ामणिका देना, रामनामाङ्कित मुद्रिकाको पहचानना, जयन्तकथाकी स्मृति देना और श्रीअनुसूयाजीके दिये हुए दिव्य भूषणवस्त्रादिका माया-सीताके शरीरपर रहना।

(२) *'आपन मोर नीक जौं चहहू।', 'जौं हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा॥'* इत्यादि आज्ञाओंका भङ्ग करनेसे सीताजीको दुःख हुआ यह मानना उचित नहीं। प्रेमवश होकर, हठ करके श्रीलखनलाल-जैसे अनन्य भक्त, अनन्य सेवकका अधिक्षेप, अनादर जिस माया-सीताने किया उस माया-सीताको उसका ही दुःखरूप दुष्परिणाम भोगना पड़ा। *'भक्तिपक्षहठ नहि शठताई'* यह सिद्धान्त त्रिकालाबाधित नहीं है यह सिद्ध हुआ, अथवा *'भक्तिपक्ष हठ नहि शठताई'* ऐसा अर्थ लेना पड़ेगा।

---

* आततायी छः होते है। प्रमाण, यथा—'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः॥' (वसिष्ठस्मृति ३। १६) अर्थात् घर जलानेके लिये आया हुआ, विष देनेवाला, हाथमें हथियार लेकर मारनेके लिये आया हुआ, धन लूटकर ले जानेवाले और स्त्री या खेतका हरणकर्ता—ये छः आततायी हैं। मनुस्मृति ८। ३५०-३५१ में मनुजीने कहा है कि आततायीको बेधड़क जानसे मार डाले इसमें कोई पातक नहीं है।—(गीतारहस्य)

(३) मानसमें सीताहरणादि सम्पूर्ण घटनाओंका मूल केवल 'हरि इच्छा', 'रामरुख' ही है।

(४) सीताहरण-घटना राजनीतिकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वकी है। इससे यह उपदेश मिलता है कि राजकारणमें केवल शक्ति और धर्मसे भी नहीं निभेगा। गुप्त युक्तिका आश्रय भी लेना पड़ेगा।

(५) *'नारद साप सत्य सब करिहौं'* इस ब्रह्मवाणीको तथा रावणको मिले हुए अनेक शापों और उच्छापोंको सत्य करना है।

☞ इस प्रसङ्गसे हमको बहुत उपदेश मिलते हैं—(१) लक्ष्मणजीके समान भगवद्भक्तका अपमान अधिक्षेप करनेवालेको दुःसह दुःख सहना ही पड़ेगा। (२) स्त्रियोंके अल्प हठसे कैसा महान् अनर्थ होता है। (३) परदारापहरणका परिणाम कितना भयङ्कर होता है। (४) आर्य सतीका अपमान करनेवालेको अवश्य दण्ड देना चाहिये, उसको क्षमा करना कायरों कुलकलङ्कोंका काम है—'**क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम्। अपराधिषु सत्वेषु नृपाणां सैव दूषणम्॥**' इत्यादि।

हा जगदेक* बीर रघुराया। केहि अपराध बिसारेउ दाया॥ १॥
आरतिहरन सरनसुखदायक। हा रघुकुल सरोज दिन नायक॥ २॥
हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा। सो फलु पायउँ कीन्हेउँ रोसा॥ ३॥
बिबिध बिलाप करति बैदेही। भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही॥ ४॥
बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा॥ ५॥
सीता कै बिलाप सुनि भारी। भए चराचर जीव दुखारी॥ ६॥

शब्दार्थ—पुरोडाश—१ यव आदिके आटेकी बनी हुई टिकिया जो कपालमें पकायी जाती थी। इसके टुकड़े काटकर यज्ञमें देवताओंके लिये मन्त्र पढ़कर आहुति दी जाती थी। यह यज्ञका अङ्ग है। २—हवि। ३—वह हवि या पुरोडाश जो यज्ञसे बच रहे। ४—यज्ञभाग।—(श० सा०)

अर्थ—हा जगत्के एकही (अद्वितीय) वीर रघुराज! आपने किस अपराधसे दया भुला दी?॥ १॥ हे (आर्तके) दुःखके हरनेवाले! हे शरणागतको सुख देनेवाले॥ २॥ हा! रघुकुलकमलके सूर्य! हा लक्ष्मण! तुम्हारा दोष नहीं। मैंने क्रोध किया, उसका फल पाया॥ ३॥ वैदेही (राजा विदेहकी कन्या) अनेक प्रकारसे विलाप कर रही हैं—'कृपाके समूह वे स्नेही दूर निकल गये हैं॥ ४॥ मेरी विपत्ति उनको कौन सुनावेगा एवं क्या किसीने सुनाया है? यज्ञकी खीरको गधा खाना चाहता है'॥ ५॥ सीताजीका भारी विलाप सुनकर जड़-चेतन सभी जीव दुःखी हो गये॥ ६॥

नोट—१ (क) इन चौपाइयोंके भाव गी० ३। ७ से मिलान करनेसे स्पष्ट हो जायँगे। यथा—*'आरत बचन कहति बैदेही। बिलपति भूरि बिसूरि 'दूरि गए मृग सँग परम सनेही'॥ कहे कटु बचन, रेख नाँघी मैं तात छमा सो कीजै। देखि बधिक बस राजमरालिनि लषन लाल छिनि लीजै॥ बनदेवनि सिय कहन कहति यों छल करि नीच हरी हौं। गोमर कर सुरधेनु, नाथ! ज्यों त्यों पर हाथ परी हौं॥'* (१—३) (ख) *'जगदेक बीर'* यह बात धनुषयज्ञ, जयन्त-प्रसङ्ग और खरदूषणवधसे जानती हैं और हनुमान्‌जीसे सुन्दरकाण्डमें इसीको कहा भी है कि किञ्चित् अपराध शक्रसुतने किया तब तो आपने ऐसा पराक्रम उसे दिखाया, अब मेरा दुःख क्यों नहीं मिटाते, वही पुरुषार्थ यहाँ दिखाइये। (प्र० सं०) पुनः *'हा जगदेक बीर……'*, यथा—'**हा राम! हा रमण! हा जगदेकवीर! हा नाथ! हा रघुपते! किमुपेक्षसे माम्।**' (हनु० ४। १४) (अर्थात् हा राम! हा रमण! हा जगत्में मुख्य अद्वितीय वीर! हा प्राणनाथ! हा रघुपति! आप मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं), '**हा राम! हा रमण! हा जगदेकवीर! तत्किं न स्मरसि।**' (हनु० १०। ३) (अर्थात् जगत्में एक ही

* 'जग एक'—(भा० दा०), इसमें 'दे' वा 'ये' पर हरताल देकर 'ए' बना है। १७६२। 'जगदेक'—१७२१, पं० रा० गु० द्वि०, ना० प्र०, छ०। जगदैक—गौड़जी, १७०४। हनुमन्नाटकमें भी 'जगदेक वीर' शब्द आये हैं।

वीर! आप इसका स्मरण क्यों नहीं करते), इन श्लोकोंके '**किमुपेक्षसे माम्**' और '**तत्किं न स्मरसि**' का भाव '***जगदेक बीर रघुराया***' में है। श्लोकमें 'जगदेकवीर' और 'रघुपते' हैं वैसे ही यहाँ। भाव कि संसारमें आपके समान दूसरा वीर नहीं तब आप मुझे क्यों नहीं छुड़ाते? (ग) '***रघुराया***' का भाव कि इस कुलमें रघु ऐसे राजर्षि हो गये हैं कि उनके पराक्रमका लोहा रावण भी मान गया (और वे ऐसे महात्मा हुए कि लोग इक्ष्वाकुका नाम ही भूल गये, इक्ष्वाकुकुल रघुकुल कहलाने लगा।) और आप तो उस कुलके सिरताज हैं (जो काम आपने किये वह कोई न कर सका) अत: आप मेरी रक्षा करें। (प्र० सं०) पुन: भाव कि रघुकुलके राजा धर्मात्मा हुए हैं और आपने तो धर्मरक्षार्थ ही जीवन-सुख और सम्पत्तिका त्याग किया तब अधर्मीद्वारा हरी जाती हुई मुझे आप क्यों नहीं बचाते। पुन: रघुवंशी दुष्टोंको दण्ड दिया करते हैं आप उन सबोंसे श्रेष्ठ हैं, तब आप रावणको दण्ड क्यों नहीं देते। यथा—'**जीवितं सुखमर्थं च धर्महेतोः परित्यजन्। ह्रियमाणामधर्मेण मां राघव न पश्यसि॥ ननु नामाविनीतानां विनेतासि परंतप। कथमेवं विधं पापं न त्वं शाधि हि रावणम्॥**' (वाल्मी० ३। ४९। २५-२६) (घ) '***केहि अपराध बिसारेउ......***' इति।—मायासीता अपना अपराध भूल गयीं। इसी तरह मायामें फँसा हुआ जीव अपने अपराधोंको भूला रहता है और ईश्वरको दोष देता है। इसीसे कहती हैं '***केहि अपराध......***'।

नोट—२ (क) '***आरति हरन......***' इति। भाव कि आप आर्तिहरण हैं और मैं आर्त हूँ। इस नाते आप मेरा दु:ख दूर करें। आप शरणसुखदायक हैं, मैं आपकी शरण हूँ, मेरी रक्षा करके मुझे सुख दीजिये। भाव कि आप अपने आर्त्तिहरण और शरणपालत्व विरदको सत्य कीजिये। दु:खहरण होनेपर सुख होता है, अत: उसी क्रमसे कहा। (ख) '***रघुकुल सरोज......***' इति।—आप रघुकुलरूपी कमलको खिलानेके लिये सूर्यसमान हैं। भाव कि मेरा हरण होनेसे रघुकुलमात्र संकुचित हो जायगा, मुँह दिखाने योग्य न रहेगा, कलङ्कित हो जायगा, आप उसे कलङ्कसे बचानेके लिये मुझे शीघ्र छुड़ाइये, जिससे वह सदा प्रफुल्लित रहे। सीताहरण दिनमें हुआ, उसके अनुसार '***दिननायक***' का रूपक दिया।

नोट—३ '***हा लछिमन तुम्हार......***' इति। (क) पहले कहा था कि '***केहि अपराध बिसारेउ दाया***', अब अपना अपराध स्मरण हो आया, अत: उसे मानकर उसके लिये पश्चात्ताप करती हैं जैसा गीतावलीके '***कहे कटु बचन रेख नाँघी मैं तात छमा सो कीजै***' तथा अ० रा० के '**त्राहि मामपराधिनीम्**' और '**क्षन्तुमर्हसि**' से स्पष्ट है! (ख) '***तुम्हार नहिं दोषा***' कहकर लक्ष्मणजीको निरपराध सूचित किया, दोष अपना स्वीकार किया और क्षमा माँगती हैं—जैसा किया, वैसा मैं भोग रही हूँ। मिलान कीजिये, यथा—अध्यात्मरा०—'**हा लक्ष्मण महाभाग त्राहि मामपराधिनीम्॥ वाक्शरेण हतस्त्वं मे क्षन्तुमर्हसि देवर।**' (३। ७। ६०-६१) अर्थात् हा महाभाग लक्ष्मण! हे देवर! मैंने तुम्हे वाग्बाण मारे थे, मुझे क्षमा करो, मुझ अपराधिनीकी रक्षा करो—ये सब भाव '***तुम्हार नहिं दोषा***' और '***सो फल पायउँ***' में आ गये। मायासीताको अब यह भागवतापराध सूझा तब रक्षाका कुछ उपाय हो गया! इसी तरह मायालिप्त जीव जब अपने दोषोंका स्मरण करता और क्षमाप्रार्थी होता है तब भगवान् उसकी रक्षाका उपाय कर देते हैं। बहुत विलाप करनेपर भी प्रभु न पहुँचे तब कहती हैं कि '***भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही***' अर्थात् वे दूर चले गये हैं, हमारे वचन नहीं सुन पाते, नहीं तो अवश्य पहुँचते या वहींसे सहायता करते। उनका कोई दोष नहीं।

नोट—(४) '***बिबिध बिलाप............***', यथा—'***बिलपति भूरि बिसूरि दूरि गए मृग सँग परम सनेही।......***' (गी० ३। ७)। ग्रन्थोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे विलाप लिखा है, सबके मतकी रक्षा 'विविध' शब्दसे हो गयी। 'वैदेही' शब्द देकर जनाया कि शोकमें देहकी सुध जाती रही। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि इससे जनाया कि वह प्राकृत स्त्री नहीं है, विदेहकी कन्या है तथापि भगवान्के विरहसे वह भी व्याकुल हो गयी और हम जीवनिकाय भगवान्के विरहमें क्या कभी कुछ भी आँसू गिराते हैं! (ख) '***भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही***' इति। पहले भगवान्को दोष लगाती थीं, अपना अपराध स्मरण होनेपर अब प्रभुकी कृपालुताका स्मरण हुआ कि वे तो कृपापुंज हैं, परम दयालु हैं, वे अवश्य रक्षा करते

यदि वे सुन पाते, पर वे बहुत दूर निकल गये हैं। यथा—'**विदित्वा तु महाबाहुरमुत्रापि महाबलः। आनेष्यति पराक्रम्य वैवस्वतहृतामपि।**' (वाल्मी० ३। ३९। ३५) इस श्लोकका भाव 'प्रभु' शब्दसे जना दिया। यमराजके यहाँसे भी वे ले आनेको समर्थ हैं। '*सनेही*'—अर्थात् जो उनसे स्नेह करते हैं उनपर उनका अवश्य स्नेह रहता है। जीवमात्रका ऐसा स्नेही दूसरा नहीं है।

नोट—५ (क) '*बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा*' इति। भाव यह कि लक्ष्मणजी जाते समय मुझे वनदेवी-देवताओं तथा दिशाओं आदिके देवताओंको सौंप गये थे; यथा—'*बन दिसि देव सौंपि सब काहू।*' (२८। ६) क्या उन आप सब देवताओंमेंसे किसीने मेरी विपत्तिकी सूचना दी या नहीं? पुनः भाव कि जान पड़ता है कि किसीने सुनाया नहीं, इसीसे उन्होंने मुझे अबतक नहीं छुड़ाया। पुनः, भाव कि जो भी देवता वा जीव-जन्तु यहाँ हैं उन सबसे मैं निहोरा करती हूँ कि प्रभुको मेरी विपत्ति सुना दीजियेगा; समाचार पानेपर वे मुझे अवश्य छुड़ा लेंगे। इन शब्दोंसे वाल्मी० ३। ४९। ३०—३५ के सब भाव ग्रहण कर लिये गये कि 'हे जनस्थानके पुष्पो! हंस और सारसोंसे युक्त गोदावरी नदी? वनवासी देवताओ! तथा पशु-पक्षी आदि यहाँके जब जीव-जन्तुओ! मैं आप सबोंको प्रणाम करके विनती करती हूँ कि आप श्रीराघवजीसे कह दें कि आपकी प्रिय स्त्रीको रावण हर ले गया, वह विवश थी।' यथा—'**आमन्त्रये जनस्थानं कर्णिकारांश्च पुष्पितान्। क्षिप्रं रामाय शंसध्वं सीतां हरति रावणः॥**' '**हंससारससंघुष्टां वन्दे गोदावरीं नदीम्।**'........'**दैवतानि च यान्यस्मिन्वने विविधपादपे। नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मां हृताम्॥**' '**यानि कानिचिदप्यत्र सत्त्वानि विविधानि च। सर्वाणि शरणं यामि मृगपक्षिगणानि वै॥**' '**ह्रियमाणां प्रियां भर्तुः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्। विवशा ते हृता सीता रावणेनेति शंसत॥**' (३०, ३२—३४) (पुनश्च गी० ३। ७) यथा—'*बनदेवनि सिय कहन कहति यों*' अर्थात् वनदेवोंसे समाचार देनेके लिये कहती हैं। (ख) '*पुरोडास चह रासभ खावा*'—भाव कि जैसे गर्दभ इन्द्रका हविभाग खाना चाहे तो वह उसको न पानेसे मर भले ही जाय उसको इन्द्रहविकी प्राप्ति नहीं हो सकती, एवं ऐसी इच्छा करनेसे वह मारा ही जायगा, वही गति रावणकी है। अर्थात् जो रावणके योग्य नहीं उसकी चाह वह कर रहा है। (मा० म०) यह भी सन्देशा है जो सीताजी वनदेवों आदिद्वारा श्रीरघुनाथजीको पहुँचाना चाहती हैं। यहाँ सीताजी पुरोडाश हैं, रावण गर्दभ है और श्रीरामजी इन्द्र हैं। (ग) मिलान कीजिये '**शुनको मन्त्रपूतं त्वं पुरोडाशमिवाध्वरे?**' (अ० रा० ३। ७। ५५)।

नोट—६ '*सीता कै बिलाप सुनि भारी*' इति। यहाँ पाँच चौपाइयों (अर्धालियों) में श्रीसीताजीका श्रीरामविरहमें विलाप कहा है—'*हा जगदेक बीर*' से '*पुरोडास चह रासभ खावा*' तक। और, आगे श्रीजानकी-विरहमें श्रीरामजीका विलाप दस चौपाइयोंमें कहा है—'*हा गुनखानि जानकी सीता।*' से '*एहि बिधि खोजत बिलपत*........' ३० (७—१६) तक। इससे अनुमान होता है कि यह भी एक कारण श्रीहनुमान्‌जीके '*तुम्ह ते प्रेम राम के दूना*' इन वचनोंका है।

टिप्पणी—१ '*सीता कै बिलाप*........' इति। (क) 'चर' का सुनना और दुःखी होना तो ठीक है, अचरका सुनना कैसा? उत्तर—'अचरसे उनके अधिष्ठातृ देवताओंका सुनना अभिप्रेत है। यथा—'*सयल सकल जहँ लगि जग माहीं। लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं॥ बन सागर सब नदी तलावा। हिमगिरि सब कहँ नेवत पठावा॥ कामरूप सुंदर तनु धारी। सहित समाज सहित बरनारी॥ गए सकल तुहिनाचल गेहा। गावहिं मंगल सहित सनेहा॥*' (१। ९४। ३—५) देखिये। (ख) श्रीरामचन्द्रजीके वियोगमें चराचर दुःखी हुआ, यथा—'*बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोबर देखि न जाहीं॥ हय गय कोटिन्ह केलिमृग पुर पसु चातक मोर। पिक रथांग सुक सारिका सारस हंस चकोर॥*' (२। ८३) '*रामबियोग बिकल सब ठाढ़े।*........*सहि न सके रघुबर बिरहागी।*' वैसे ही यहाँ श्रीजानकीजीके वियोग और विलापसे इनकी दशा हो गयी है। इससे जाना गया कि अचर भी दुःखी हुए और उन्होंने सुना भी। (ग) चराचर जीव दुःखी हुए यह कहकर जनाया कि उनके किये कुछ न हुआ। जिससे कुछ बन पड़ा उसको आगे कहते हैं।

नोट—७ वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि वायुका बहना बन्द हो गया, सूर्य प्रभाहीन हो गये। तालाबोंके

कमल मुर्झा गये, जलचर डर गये, उत्साहहीन होकर मानो वे अपनी सखी सीताके लिये शोक करने लगे। सिंह, व्याघ्र, मृग आदि सीताजीकी छायाके पीछे-पीछे क्रोधसे दौड़े। पर्वत मानो रो रहे हैं। सूर्यमण्डल पीला पड़ गया। 'धर्म नहीं है। सत्य, ऋजुता और दयालुता कहाँ हैं? जो आज रावण श्रीरामकी वैदेही सीताको हरणकर लिये जा रहा है' इस प्रकार सब प्राणी अपने-अपने दलमें रोने लगे। मृगशावक रोने लगे, वनदेवता काँपने लगे। यथा—'**न वाति मारुतस्तत्र निष्प्रभोऽभूद्दिवाकरः।**' (३। ५२। १०) **नलिन्यो ध्वस्तकमलास्त्रस्तमीनजलेचराः। सखीमिव गतोत्साहां शोचन्तीव स्म मैथिलीम्॥ समन्तादभिसंपत्य सिंहव्याघ्रमृगद्विजाः। अन्वधावंस्तदा रोषात्सीताच्छायानुगामिनः॥''''''''नास्ति धर्मः कुतः सत्यं नार्जवं नानृशंसता। यत्र रामस्य वैदेही सीतां हरति रावणः॥ इति भूतानि सर्वाणि गणशः पर्यदेवयन्।**'(३५—४०) इत्यादि।—यह सब '*भए चराचर जीव दुखारी*' कहकर कविने जना दिया। श्रीसीतारामजी विश्वात्मा हैं, सबकी अन्तरात्मा हैं; यथा—'*सीय राममय सब जग जानी।*' (१। ८। २) '*अंतरजामी रामु सिय''''''''।*' (२। २५६) '*सबके उर अंतर बसहु''''''''''।*' (२५७) '*जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगलमूल नसाहीं।''''''''ते सिय राम''''''*' इत्यादि। अतः उनके दुःखी होनेसे चर-अचर सब दुःखी हुआ ही चाहे।

श्रीसीतात्यागपर जब श्रीलक्ष्मणजी श्रीजानकीजीको वाल्मीकिजीके आश्रमकी सीमामें छोड़कर चले हैं, उस समय भी श्रीजानकीजीका कुररीके समान विलाप सुनकर चराचरकी ऐसी दशा हो गयी थी। मोरोंने नृत्य करना छोड़ दिया था, वृक्षोंने फूलोंको और हरिणियोंने ग्रहण किये हुए कुशोंको छोड़ दिया। यथा—'**तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते। सा मुक्तकण्ठं व्यसनाद्धराच्चचक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः॥ नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः। तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि॥**' (रघुवंश, सर्ग १४। ६८-६९)

'दाम्पत्य-प्रेम'

श्रीसीताजीका कितना प्रगाढ़ प्रेम श्रीरामजीमें था, यह वनयात्रा-समय देखनेमें आया है। परंतु सीताहरणसे लेकर लङ्का-विजयके बाद पुनर्मिलापतक इसका लीलाके रूपमें अधिक परिचय मिलता है। वे श्रीरामजीके विरहमें कैसी विकल थीं, यह बात उनके विलाप और सुन्दरकाण्डमें विशेष रूपसे देखनेमें आती है। उनके प्रेमको जाननेवाले एक रघुनाथजी ही हैं। दूसरा नहीं। उन्होंने श्रीमुखसे यह कहा है—'***तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥***'

प्रेमकी पहिचान है कि वह अपने प्रेमपात्रको दहला देता है, चाहे वह उससे कितनी ही दूर क्यों न हो। प्रेमी और प्रेमपात्र ये दोनों अन्योन्याश्रित शब्द हैं। जो प्रेमी है वही प्रेमपात्र भी है। जितना ही अधिक प्रेमपात्र व्याकुल हो, उतना ही अधिक प्रेमीका प्रेम समझना चाहिये। ठीक यही बात यहाँ देख लीजिये।—इधर महारानीजी स्वामीके विरहमें परम व्याकुल हैं तो उधर स्वामी श्रीरघुनाथजी उनसे अधिक उनके लिये व्याकुल हैं। महाविरही अति कामीकी नाईं बेसुध हो रहे हैं, '*लता तरु पाती*' '*खग मृग पशु*' इत्यादिसे पूछते, रूप गुण आदिका बखान करते, उन्मत्त और स्त्रैणकी भाँति विलाप करते चले जा रहे हैं। महारानीजीसे अधिक विलाप उनका मानसमें दिखाया गया है। '*तुम्ह तें प्रेम राम के दूना।*' (अ० २९। १। ५) और सुं० १३ (१०) देखिये। यह सब क्यों? क्योंकि भगवान्‌का बाना है कि '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' इसीको यहाँ चरितार्थ कर रहे हैं और हम लोगोंको इस चरितसे उपदेश दे रहे हैं कि यदि तुम हमारे लिये व्याकुल होगे तो हम तुम्हारे लिये तुमसे द्विगुण व्याकुल होंगे।

यह लीला विशेषकर भक्तोंके लिये की गयी है और उन्हें वियोग-शृङ्गारका एक जीता-जागता रूप दिखाया गया है। यहाँका वियोग-शृङ्गार कृष्णावतारके वियोग-शृङ्गारसे कहीं ऊँची कोटिका है। परंतु है यह लीलामात्र, क्योंकि महारानीसे तो वास्तविक वियोग कभी हुआ ही नहीं, वह तो अलक्ष्यरूपसे अग्निके भीतर निहित निरन्तर उनके साथ है—'*लछिमनहूँ यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना॥*' उनका वियोग तो कभी हो ही नहीं सकता। शक्तिमान्‌से शक्ति कभी अलग नहीं हो सकती। सूर्यसे सूर्यकी किरणें

मिली हुई हैं, चाहे वह ९ करोड़ मीलतक क्यों न विस्तृत हों। भगवान्‌की शक्तिका विस्तार अनन्त देश और अनन्तकालमें होते हुए भी वह कभी भगवान्‌से अलग नहीं हो सकती। महारानीजी तो भगवान्‌की अनन्तशक्तिकी मूल स्रोत हैं। वे तो भगवान्‌के अन्तरकी अन्तरतम हैं, वे कभी अलग नहीं हो सकतीं। राजा राजधानीमें बैठा हजारों कोसपर अपनी राज्यकी सीमामें अपनी शक्तिसे शासन चलाता रहता है, परंतु उसकी वास्तविक शक्ति तो बराबर उसीके पास मौजूद है। भगवान्‌की शक्तिसे भगवान्‌का वियोग नहीं हो सकता। यद्यपि रावणको मारनेके लिये उसका अंश मायारूप होकर अपने शत्रुके यहाँ चला जाता है और उसके नाशके समयतक उसके यहाँ बना रहता है। दाम्पत्यप्रेमकी इस सत्ताको, जिसमें कि किसी देश या कालमें उसी तरह वियोग नहीं है जिस तरह सूर्यमें रात्रिका अत्यन्ताभाव है, शब्दोंके द्वारा कल्पनामें लाना असम्भव है। इसी अगाध, अचिन्त्य और कल्पनातीत दाम्पत्यप्रेमके केलि और विहारका ही नाम अनन्त विश्वोंकी रचना; जीवन और संहार है। इस विश्व वा भवसागरवाले महानाटकका अभिनय है *'भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥'* इस चिरन्तन अनादि अनन्त लीलामें वियोग कहाँ है? जो कुछ वियोग दिखाया जाता है वह तो लीला और खेलका एक नगण्य अङ्ग है जो केवल भक्तोंकी खातिर भक्तवत्सल भगवान्‌द्वारा अभिनीत होता है। भक्तवत्सल भगवान्‌की जय! जय!! जय!!!

गीधराज सुनि आरत बानी। रघुकुलतिलक नारि पहिचानी॥ ७॥
अधम निसाचर लीन्हे जाई। जिमि मलेछ बस कपिला गाई॥ ८॥
सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहौं जातुधान कर नासा॥ ९॥
धावा क्रोधवंत खग कैसे। छूटै पबि पर्बत कहुँ जैसे॥ १०॥
रे रे दुष्ट ठाढ़-किन होही। निर्भय चलेसि न जानेहि मोही॥ ११॥

अर्थ—गृध्रराजने श्रीसीताजीकी दुःखभरी वाणी सुनकर पहिचाना कि यह रघुकुलतिलक श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नी हैं॥ ७॥ नीच निशाचर इन्हें लिये जाता है, जैसे म्लेच्छके वशमें कपिला गाय पड़ी हो॥ ८॥ हे सीते पुत्रि! डरो मत, मैं निशाचरका नाश करूँगा॥ ९॥ वह पक्षी क्रोधमें भरा हुआ कैसे दौड़ा, जैसे पर्वतकी ओर वज्र छूटे॥ १०॥ रे रे दुष्ट! तू खड़ा क्यों नहीं होता? निडर चला जा रहा है। मुझे नहीं जानता?॥ ११॥

नोट—१ (क) *'गीधराज सुनि'* इति। यहाँ गीधराज पद दिया, क्योंकि रावण राजा है। राजासे राजा लड़ता है। अथवा, राजकुमारीकी सहायता करना है, यह कार्य राजाके योग्य है। गौको म्लेच्छसे छुड़ाना भी राजधर्म है। (ख) *'सुनि आरत बानी।'* इति। *'हा जगदेक बीर रघुराया।'*……*'हा रघुकुल सरोज दिननायक'* इन आर्त्तवचनोंसे जाना कि रघुकुलतिलक श्रीरामजीकी धर्मपत्नी हैं। जटायु कहाँ था इसमें मतभेद है। कोई पहाड़की चोटीपर और कोई वृक्षपर होना कहते हैं, यथा—**'जटायुरुत्थितः शीघ्रं नगाग्रात्तीक्ष्णतुण्डकः।'** (अ० रा० ३। ७। ५४) **'वनस्पतिगतः श्रीमान्व्याजहार शुभां गिरम्।'** (वाल्मी० ३। ५०। २) इसीसे कविने यहाँ किसी स्थानका नाम न दिया।

नोट—२ *'रघुकुलतिलक नारि'* कहकर *'अधम निसाचर लीन्हे जाई'* पद देकर इसकी बड़ी अयोग्यता जनायी। अर्थात् कहाँ तो रघुकुलमें शिरोमणि राम और कहाँ यह निशाचरोंमें अधम म्लेच्छ। म्लेच्छसे गऊकी रक्षा करना राजा, प्रजा सभीका कर्त्तव्य और धर्म है। यह म्लेच्छका राजा है, मैं गृध्रराज हूँ, मेरा धर्म है रक्षा करना। ☞ मिलान कीजिये, *'गोमर कर सुरधेनु नाथ ज्यौं त्यौं पर हाथ परी हौं। तुलसीदास रघुनाथनाम धुनि अकनि गीध धुकि धायो॥'* (गी० ३। ७) यह वाणी सुनी, इससे *'म्लेच्छ बस कपिला गाई'* ऐसा विचार उनके हृदयमें आया।

नोट—३ (क) *'सीते पुत्रि'* इति। जटायुजी दशरथजीके सखा हैं, यह दोहा १३ में बताया गया है। मित्रका पुत्र पुत्रके समान है। इस तरह श्रीरामजी पुत्र हुए। पुत्रकी स्त्री कन्या-समान है, यथा—*'अनुजबधू*

भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥' (४। ९। ७) अतः 'पुत्रि' कहा। 'पुत्रि' शब्दमें कैसा माधुर्य और वात्सल्य झलक रहा है। (ख) *'करिहौं जातुधान कर नासा'*—इसका सीधा अर्थ यही है कि निशिचरका नाश करूँगा यह कहकर उससे श्रीसीताजीको अभय देकर प्रसन्न किया। गीतावली और हनुमन्नाटकमें भी ऐसा ही कहा है। यथा—'**पुत्रि! पुत्रि! जनि डरहि न जैहै नीचु मीचु हौं आयो।**' (३। ७) '**मा भैषीः पुत्रि सीते व्रजति मम पुरो नैष दूरं दुरात्मा।**' (हनु० ४। १०)

नोट—४ *'करिहौं जातुधान कर नासा'*। यहाँ सरस्वतीकृत विलक्षण शब्द पड़े हैं, सरस्वती उसकी वाणीका यों अर्थ सिद्धकर सत्य करती है—'यातुधानके करसे अपना नाश करूँगा' अर्थात् तेरे लिये मैं आत्मसमर्पण करता हूँ। (पं० रा० कु०) दीनजी कहते हैं कि यदि अनुस्वारका विचार न कर लें तो यह एक प्रकारका आशीर्वाद मानो दे रहे हैं कि तुम्हारा यह कुछ न कर सकेगा वरन् तुम्हारे ही द्वारा इसका नाश होगा।

नोट —५ जटायुके सम्बन्धमें *'धावा'* शब्दका प्रयोग तीन बार किया है, यथा—*'धावा क्रोधवंत' 'सुनत गीध क्रोधातुर धावा' 'तबहिं गीध धावा करि क्रोधा'*। तीन बार लिखकर जनाते हैं कि तीन मण्डलमें जटायु रावणके रथपर पहुँच गया। गृध्र, चील आदि पक्षी आकाशमें सीधे, सरल रेखामें नहीं उड़ते, वे मँड़राते हैं। (प० प० प्र०)

नोट—६ प० प० प्र० का मत है कि जटायुने अभी यह नहीं जाना कि रावण है, इतना ही समझा कि कोई निशाचर है। क्रमशः एकसे दूसरे मण्डलमें जटायुको सीतापहारककी और रावणको आनेवाले विरोधककी अधिकाधिक पहचान होती गयी। पहले मंडलमें जटायुने जाना कि कोई राक्षस है और रावणने समझा कि मैनाक होगा। दूसरेमें रावणने तर्क किया कि खगपति गरुड़ होगा। तीसरेमें दोनों एक दूसरेको यथार्थ जान गये।

टिप्पणी—१ *'छूटै पबि पर्बत कहुँ जैसे'* अर्थात् ऊपरसे पंख समेटकर वज्र-समान छूटा। वज्रके गिरनेसे पर्वत चूर-चूर हो जाता है, वैसे ही यहाँ *'चोचनि मारि बिदारेसि देही'*। २—*'रे रे दुष्ट ठाढ़............'* इति। रावण दुष्ट था, अतः उसे सभी दुष्ट कहते हैं। यथा—*'कह सीता सुनु जती गुसाईं। बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं॥', 'रे रे दुष्ट ठाढ़-किन होही'* (जटायु) *'यह दुष्ट मारेउ नाथ भए देव सकल सनाथ'* (इन्द्र), *'परद्रोह रत अति दुष्ट पायो सो फल पापिष्ट'* (इन्द्र)। ३—*'न जानेहि मोही'* अर्थात् यह नहीं जानता कि मैं इसका रखवाला हूँ, रक्षक हूँ।

नोट—७ (क) *'रे रे दुष्ट.........'*—परदारापहरणसे 'दुष्ट' कहा; यथा—*'रे त्रियचोर कुमारगामी। खल मलरासि मंदमति कामी॥'* (६। ३२) मिलान कीजिये हनु० ४७ से यथा—'**रे रे भोः परदारचोर किमरेऽधीरं त्वया गम्यते, तिष्ठाधिष्ठितचन्दनाचलतटः प्राप्तो जटायुः स्वयम्।**' पुनश्च यथा—'**रे रे रक्षः क्व दारान् रघुकुलतिलकस्यापहृत्य प्रयासि।**' (हनु० ४। ९) अर्थात् रे! रे परस्त्रीचोर! तू क्यों शीघ्रतासे चला जा रहा है? अरे! खड़ा तो रह। स्वयं मैं जटायु आ प्राप्त हुआ हूँ। अरे राक्षस! तू रघुकुलतिलक रामकी स्त्रीको चुराकर कहाँ जा रहा है?—ये सब भाव इस चरणमें आ गये। पुनः, ये शब्द ललकारके ही हैं यदि तू वीर है तो ठहरकर मुझसे युद्ध कर; यथा—'**युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्त्तं तिष्ठ रावण।**' (वाल्मी० ३। ५०। २३)

(ख) *'न जानेहि मोही'* अर्थात् क्या तू नहीं जानता कि मैं सनातनधर्मस्थित, सत्यप्रतिज्ञ, महाबली गृध्रराज और कश्यपका पौत्र जटायु हूँ। यथा—'**दशग्रीव स्थितो धर्मे पुराणे सत्यसंश्रवः।.........जटायुर्नाम नाम्नाहं गृध्रराजो महाबलः॥**' (वाल्मी० ३। ५०। ३-४) क्या तुझे खबर नहीं कि मैं कैसा वीर हूँ और यहाँ दोनों भाइयोंकी अनुपस्थितिमें मैं वैदेहीका रक्षक हूँ; यथा—'**सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे॥**' (वाल्मी० ३। १४। ३४) ☞इन शब्दोंसे जान पड़ता है कि रावण जानता था गृध्रराज जटायु बड़ा पराक्रमी और बलवान् था। पुनः *'न जानेहि मोही'* का भाव कि यद्यपि बूढ़ा हूँ तथापि मैं तुझसे युद्ध करनेका साहस रखता हूँ, मैं तुझे युद्धभूमिमें तेरे भाई खरकी तरह सुलाये देता हूँ,

मैं अभी तुझे रथसे गिराता हूँ, इत्यादि यथा—'**तिष्ठ तिष्ठ दशग्रीव मुहूर्त्तं पश्य रावण। वृन्तादिव फलं त्वां तु पातये यं रथोत्तमात्। युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथाप्राणं निशाचर॥**' (वाल्मी० ३। ५०। २८) '**शयिष्यसे हतो भूमौ यथा भ्राता खरस्तथा॥**' (३, ५०। २३, ५१। ३०)

गोस्वामीजी और नारिजातिका आदर्श

पं० रामचन्द्रजी—कविने रामायणकी रचना करके ही यह दरसा दिया कि उसकी दृष्टिमें स्त्रीका पद कितना ऊँचा है। एक स्त्रीके अपमानके बदलेमें हजारों योद्धा अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। उसीके प्रतिकारमें सीताहरण होता है। फिर उनकी रक्षा, उनकी मानमर्यादाको पददलित करनेके प्रयत्नको विफल करनेके लिये लङ्कामें रक्तकी नदी बहती है।

सुनसान स्थान है। एक अकेली अबला पर्णकुटीमें बैठी है। रावण-सा प्रतापी सम्राट् उसके रूपलावण्यकी कथापर मुग्ध हो उसको उड़ाने तथा अपनी भगिनीके अपमानका बदला लेने आता है। पर उसे इतना साहस नहीं होता कि सम्मुख जाकर प्रेमभिक्षाकी याचना करे। अतः यतिका वेष करके जाता है। पर जब इस प्रकार सफल-मनोरथ नहीं होता तब अपना असली रूप दिखाता है। पर उत्तर क्या मिलता है?—'*जिमि हरि बधू छुद्र सस चाहा*·········'।

इसका प्रभाव कामान्धपर क्या पड़ता है?—'*सुनत बचन दससीस लजाना। मन महुँ चरन बंदि सुख माना।*' पर प्रतिकारमिश्रित कामकी ज्वाला हृदयमें दहक रही है जिसमें पड़कर यह विचार भस्म हो जाता है और वह श्रीसीताजीको बलात् ले जाता है। वे कातरध्वनिसे विलाप करती जाती हैं। यह क्रन्दनका शब्द जटायुके कर्ण-कुहरमें पड़ता है। बेचारा जरासे अशक्त हो रहा है। तो भी—'*गीधराज सुनि आरत बानी*··········', '*सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहौं जातुधान कर नासा॥*' एक अबला हरी जा रही है। एक अशक्त वृद्धपक्षी या नवीन दृष्टिके मतानुसार कोई वृद्ध अनार्य सरदार यह दृश्य देखता है। वह कातर हो उठता है। वह इस अनाचारको सहन नहीं कर सकता और अबलाके बचानेमें अपने प्राणोंकी आहुति दे देता है। क्या पाश्चात्त्य शिवेलरी (Chivalry) में इसकी समानता मिलती है? वहाँ तो किसी रमणीकी सहायताके उपलक्षमें यह मानी हुई बात है कि आगे चलकर प्रेमकी भिक्षा माँगी जायगी। भारतके तुच्छ जीव भी अबलाके रक्षार्थ अपने प्राणोंकी परवा नहीं करते। 'पुत्रि' शब्दमें भी कैसा माधुर्य, कैसा वात्सल्यस्नेह झलक रहा है।

आवत देखि कृतांत समाना। फिरि दसकंधर कर अनुमाना॥ १२॥
की मैनाक कि खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई॥ १३॥
जाना जरठ जटायू एहा। मम कर-तीरथ छाँड़िहि देहा॥ १४॥
सुनत गीध क्रोधातुर धावा। कह सुनु रावन मोर सिखावा॥ १५॥
तजि जानकिहि कुसल गृह जाहू। नाहिं त अस होइहि बहु बाहू॥ १६॥
राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा॥ १७॥

अर्थ—यमराज वा कालके समान आते हुए देखकर दसकन्धर रावण फिरकर मनमें अनुमान (अटकलसे विचार) करने लगा— ॥ १२॥ (यह) या तो मैनाक पर्वत होगा या पक्षियोंका स्वामी गरुड़ होगा। पर (यदि यह गरुड़ है तो) वह तो अपने स्वामी विष्णुसहित मेरे बलको खूब जानता है॥ १३॥ (निकट आनेपर) जाना कि (वा, अच्छा मैंने जान लिया) यह तो बुड्ढा जटायु है। मेरे हाथरूपी तीर्थमें यह शरीर छोड़ेगा॥ १४॥ यह सुनकर गृध्र क्रोधसे उतावला हो शीघ्र दौड़ा और बोला—हे रावण! मेरी सिखावन सुन॥ १५॥ जानकीको छोड़कर खैरियतसे घर चला जा। नहीं तो हे बहुत-से भुजाओंवाले! ऐसा होगा कि श्रीरामचन्द्रजीके क्रोधरूपी अत्यन्त भयंकर अग्निमें तेरा सारा वंश पतिंगा (की तरह) हो जायगा (जल मरेगा)। (१६-१७)

नोट—१ (क) *'आवत देखि कृतांत समाना'* इति।—इससे सूचित किया कि जटायु क्रोधमें भरे हुए शीघ्रतासे उसकी ओर झपटे जा रहे हैं कि उसका ताड़न करें, जैसे यमराज पापी प्राणीको दण्ड देनेके लिये रोष करते हैं। (ख) *'दसकंधर कर अनुमाना'* इति।—भाव कि दस सिर बीस भुजाओंका अहंकार मनमें लाकर दसों मस्तिष्कोंसे विचार करने लगा। *'अनुमाना'* से जनाया कि रावणने अभी उसे पहचाना नहीं, अभी देख नहीं पाया।

नोट—२ *'की मैनाक कि खगपति''''''''सहित पति सोई'* इति। मैनाक हमारा बल जानता है कि इन्द्र हमारे डरसे भागा-भागा फिरता है और वह तो इन्द्रके वज्रके भयसे समुद्रमें जा छिपा था तब भला मेरा सामना क्या कर सकता है? और गरुड़ है तो इसपर सवार होकर अनेक बार इसके स्वामीने मुझपर चक्र चलाया तो भी मेरा कुछ न बिगड़ा, अतः वह जान-बूझकर अब क्यों सामना करेगा? यथा—'**विष्णुचक्रनिपातैश्च शतशो देवसंयुगे। अन्यैः शस्त्रैः प्रहारैश्च महायुद्धेषु ताडितम्॥ अहताङ्गैः समस्तैस्तं देवप्रहरणैस्तदा॥**' (वाल्मी० ३। ३२। १०-११) '**ऐरावतविषाणाग्रैरापीडनकृतव्रणौ। वज्रोल्लिखितपीनांसौ विष्णुचक्रपरिक्षतौ॥**' (वाल्मी० ५। १०। १६) अर्थात् विष्णुके साथ युद्धमें तथा अन्य बड़े-बड़े संग्रामोंमें भगवान् विष्णुके चक्रके सैकड़ों घाव तथा अन्य शस्त्रोंके प्रहारसे वह ताड़ित हुआ है। ऐरावतके दाँतोंके आघातसे उसकी विशाल भुजाओंमें चिह्न हो गये थे, वज्रसे मोटे कन्धोंमें छिद्र हो गये थे और विष्णुके चक्रसे उनमें घाव हो गये थे। हनुमन्नाटकमें रावणके इन विचारोंसे मिलता हुआ यह श्लोक है—'**मैनाकः किमयं रुणद्धि पुरतो मन्मार्गमव्याहत शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद्भीतो महेन्द्रादपि। तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावणं हा ज्ञातं स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति॥**' (४। ९) अर्थात् मेरे स्वच्छन्द मार्गको क्या यह मैनाक पर्वत अगाड़ीसे रोकता है? उसकी क्या सामर्थ्य? वह तो वज्र लगनेके भयसे इन्द्रसे डरता है। तो क्या गरुड़ है? वह भी अपने स्वामीसहित मुझ रावणको जानता है। ओहो! जान लिया, यह जटायु ही है, बुढ़ापेसे क्लेशित होकर मरनेकी इच्छा करता है।

नोट—३ (क) *'जाना जरठ जटायू एहा'*—भाव कि अरे! यह मृतक-समान अत्यन्त बूढ़ा होकर भी मुझे ललकारता है। वाल्मीकीयमें जटायुने रावणसे कहा है कि मुझे उत्पन्न हुए और पिता-पितामहोंके राज्यका पालन करते हुए साठ हजार वर्ष हो गये। यथा—'**षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम रावण। पितृपैतामहं राज्यं यथावदनुतिष्ठतः॥**' (३। ५०। २०) (ख) *'मम कर-तीरथ छाँड़िहि देहा।'*—रावणका अभिमान इसीसे स्पष्ट है कि वह अपने ही मुखसे अपने हाथोंको तीर्थकी उपमा दे रहा है। हाथोंका तीर्थसे रूपक बाँधा। भाव यह कि लोग मोक्षके लिये अपना शरीर अयोध्या, काशी, प्रयाग, मथुरा आदि तीर्थोंमें छोड़ते हैं। रावण गर्वसे सोचता है कि हमारा सामना करनेको आ रहा है तो अवश्य इसे अपने प्राण देने हैं, यह मारा जायगा, मानो हमारे हाथोंसे वध होनेको ही यह तीर्थ समझकर आया है। जरा अवस्थामें क्लेश होता है, इसीसे वह मरनेकी इच्छा करता है। यथा—'**जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति**' (उपर्युक्त)।

पं० रा० चं० शुक्ल—*'की मैनाक कि खगपति होई।'* 'संदेह' विशुद्ध अलङ्कार वहीं कहा जा सकता है जहाँ सदृश वस्तु लानेमें कविका उद्देश्य केवल रूप, गुण या क्रियाका उत्कर्ष या अपकर्ष दिखाना रहता है। ऐसा संदेह वास्तविक भी हो सकता है, पर वहाँ अलङ्कारत्व कुछ दबा-सा रहेगा। जैसे *'की मैनाक''''''''* में जो संदेह है, वह कविके प्रबन्धकौशलके कारण वास्तविक भी है तथा आकारकी दीर्घता और वेगकी तीव्रता भी सूचित करता है।

नोट—४ *'सुनत गीध'* इति। पूर्व कहा कि *'दसकंधर कर अनुमाना'* और अब कहते हैं कि *'सुनत''''''''* इससे जान पड़ता है कि अनुमान मनमें ही नहीं किया किंतु मुखसे कहा भी। अथवा, *'की मैनाक कि खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई॥'* यह अनुमान है और समीप आनेपर पहचाननेपर गर्वमें आकर ये वचन प्रकट कहे—*'जरठ जटायू एहा। मन कर तीरथ छाड़िहि देहा॥'* इन्हींको जटायुने सुना, तब बहुत क्रोधयुक्त हो गया। यह दूसरा भाव और अर्थ हनुमन्नाटकके अनुसार भी ठीक जान पड़ता है। इस प्रकार, 'जाना'—अहा! मैं जान गया।

टिप्पणी—१ *'क्रोधातुर धावा'* से ज्ञात होता है कि रावण खड़ा होकर विचार करने लगा था तब जटायु भी धीमा हो गया, पर जब उसने ऐसे वचन कहे तब वह पुनः शीघ्रतासे दौड़ा और पास पहुँचकर उपदेश दिया। रावणने *'जरठ'* कहा है और बूढ़े उपदेश देनेयोग्य होते ही हैं, अतः उपदेश दिया, यथा—*'मनहु जरठपन अस उपदेसा'* (अ०)। (*'जरठ'*······ कहकर रावणने जटायुका अपमान किया, इसीसे उसका क्रोध और बढ़ गया। भाव यह कि तू युवा अवस्थाका है और अस्त्र-शस्त्रधारी है तथा रथपर है और मैं बूढ़ा हूँ इसीसे तू मेरा अपमान करता हुआ सीताजीको लिये मेरे सामनेसे चला जा रहा है, मेरी ललकारपर भी रुकता नहीं।)

टिप्पणी—२ *'तजि जानकी कुसल गृह जाहू'* अर्थात् नहीं छोड़ते तो अभी एक तो हमारे ही हाथों तुम्हारा कुशल नहीं और फिर रामरोष-पावकसे कुलसमेत तुम्हारा कुशल नहीं।

टिप्पणी—३ *'नाहित अस होइहि बहुबाहू'* इति। रावणको अपने बाहुबलका एवं बीस भुजाएँ होनेका बड़ा अभिमान है यथा—*'भवन चलेउ निरखत भुज बीसा।'* (३। ७) *'मम भुजसागरबल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा॥' 'बीस पयोधि अगाध अपारा।'* (६। २८) *'हरिगिरि जान जासु भुज लीला।'* '········*भुज बिक्रम जानहिं दिगपाला। सठ अजहूँ जिन्ह के उरसाला॥'* (६। २५) *'हरगिरि मथन निरखु मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू॥'* (६। २८) *'कहसि न खल अस को जग माहीं। भुजबल जाहि जिता मैं नाहीं॥'* (५। ४१) *'निज भुज बल मैं बयरु बढ़ावा।'* (६। ७७)। इत्यादि। इसीसे *'बहुबाहू'* कहा। अर्थात् ये सब काट डाले जायँगे।

टिप्पणी—४ *'होइहि सकल सलभ कुल तोरा'* इति। पतङ्गोंका संयोग दीपकसे है, यथा—*'दीपसिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।'* (३। ४६) पर यहाँ 'दीपक' न कहकर *'रामरोष पावक'* कहा। कारण कि बहुत पतिङ्गोंके आ पड़नेसे दीपक बुझ भी जाता है। यहाँ *'सकल*········· *कुल'* बहुत-से पतिङ्गे हुए। उनके जलानेके लिये *'अति घोर पावक'* कहा जिसमें कोई बचे नहीं और आग बुझे नहीं। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है, यथा—*'निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु। जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु॥'* (५। १५) (हनुमद्वाक्य) *'लखनरोषु पावक प्रबल जानि सलभ जनि होहु।'* (१। २६६) वाल्मीकीयमें भी ऐसा ही कहा है, यथा—'**क्षिप्रं विसृज वैदेहीं मां त्वा घोरेण चक्षुषा। दहेद्दहनभूतेन वृत्रमिन्द्राशनिर्यथा॥**' (३। ५०। १६) अर्थात् वैदेहीको छोड़ जबतक अग्निके समान जलती हुई भयानक आँखोंसे श्रीरामजी तुमको जला न दें, जैसे इन्द्रने वृत्रको जलाया था। इसी तरह जटायुने वहाँ बहुत समझाया है। सर्ग ५० और ५१ में पाठक देख लें।

उतरु न देत दसानन जोधा। तबहिं गीध धावा करि क्रोधा॥ १८॥
धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा। सीतहि राखि गीध पुनि फिरा॥ १९॥
चोचन्हि मारि बिदारेसि देही। दंड एक भइ मुरुछा तेही॥ २०॥
तब सक्रोध निसिचर खिसिआना। काढ़ेसि परम कराल कृपाना॥ २१॥
काटेसि पंख परा खग धरनी। सुमिरि रामु करि अद्भुत करनी॥ २२॥

शब्दार्थ—**कच**=बाल, केश। '**विदारना**'=विदीर्ण करना, फाड़ डालना।

अर्थ—योद्धा दशमुख उत्तर नहीं देता। तभी गृध्र क्रोध करके दौड़ा॥ १८॥ (और रावणके) बाल पकड़कर उसको बिना रथका कर दिया। रावण पृथ्वीपर गिर पड़ा। (तब) गृध्र श्रीसीताजीको (अपने स्थानपर) रखकर फिर लौटा॥ १९॥ और चोंचोंसे मार-मारकर उसके शरीरको विदीर्ण कर डाला (जिससे) उसे एक दण्डभरके लिये मूर्च्छा आ गयी॥ २०॥ तब खिसियाये हुए निशाचरने क्रोधपूर्वक महाभयङ्कर खड्ग निकाला॥ २१॥ और उसके पक्ष (पखने) काट डाले। अद्भुत करनी करके पक्षी श्रीरामजीका स्मरण करते हुए पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ २२॥

नोट—१ *'जोधा'* पद देकर जनाया कि योद्धा करनी करते हैं बकते नहीं, यथा—*'सूर समर करनी*

करहिं कहि न जनावहिं आप।' (१। २७४)। उसने अपना कर्त्तव्य निश्चय कर लिया है कि इसकी मृत्यु मेरे हाथ है। अतः उत्तर न दिया।

टिप्पणी—१ '***तबहिं गीध धावा करि क्रोधा***' इति। (क) गृध्रराजका तीन बार धावा करना और तीनों बार क्रोध करना लिखा गया। यथा—'***धावा क्रोधवंत खग कैसे,***' '***सुनत गीध क्रोधातुर धावा***' और यहाँ '***धावा करि क्रोधा***'। इसका तात्पर्य यह है कि बीच-बीचमें रुक जाता था। प्रथम जब रावण अनुमान करने लगा तब रुक गया, फिर रावणको समझाने लगा, तब ठहर गया। (ख) प्रथम क्रोध सीताहरणपर हुआ, दूसरा क्रोध उसके अभिमानपूर्वक बोलनेपर हुआ और तीसरी बार उसके उत्तर न देनेपर क्रोधावेश हुआ। (प० प० प्र० का भाव चौ० १० में है।)

टिप्पणी—२ '***धरि कच***' से जनाया कि उसके सिरपर उड़ता रहा, इससे बाल पकड़ना ही सुगम जान पड़ा* [बाल पकड़कर धरना कहा गया। क्यों? क्योंकि यह मर्मस्थल है, इनके पकड़ने-खींचनेसे अत्यन्त पीड़ा होती है जिससे मनुष्य तुरंत काबूमें आ जाता है। दीनजी]

टिप्पणी—३ '***चोचन्हि मारि बिदारेसि देही।*****……*****मुरुछा……***' इति। पूर्व जो कहा था '***छूटै पबि पर्बत कहँ जैसे***' उसको यहाँ चरितार्थ किया। देह विदीर्ण करनेके लिये '***पबि पर्बत***' की उपमा है। इसी प्रकार '***आवत देखि कृतांत समाना***' की उपमा 'मूर्च्छित' करनेके विचारसे दी गयी। इस चौपाईका भाव यह है कि उसने रावणको मृतप्राय कर दिया। ब्रह्माके वरसे वह मर नहीं सकता, नहीं तो मृत्युमें संदेह न था। **देही**=देह, शरीर, यथा—'***पिता मंदमति निंदत तेही। दक्षशुक्र संभव यह देही॥***' (१। ६४) '***नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत जेही॥***' (७। १२१)

गौड़जी—एक दण्डतक मूर्च्छित रहा। फिर इस दशामें सीताजी स्वयं क्यों न भाग गयीं? गीधने स्वयं सीताजीको लेकर आश्रममें क्यों न पहुँचाया? बात यह थी कि माया-सीताको तो रावणके नाशके लिये उसके साथ जाना ही था। गीधको भी यह बुद्धि इसीसे न आयी।

नोट—२ वाल्मी० तथा अ० रा० में प्रथम भेंटपर जटायुजीने श्रीरामजीसे कहा है कि तुम्हारे और लक्ष्मण दोनोंके आश्रमसे बाहर जानेपर मैं सीताकी रक्षा करूँगा। यथा—'**सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे।**' (३। १४। ३४) '**मृगयायां कदाचित्तु प्रयाते लक्ष्मणेऽपि च॥**' (५)॥ '**सीता जनककन्या मे रक्षितव्या प्रयत्नतः।**……' (अ० रा० ३। ४। ५-६)। यही बात मानसमें कविने '***गीधराज सैं भेंट भइ बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ। गोदावरी निकट प्रभु रहे परनगृह छाइ॥***' (३। १३) से जनायी है। गीतावलीमें श्रीरामजीके '***सुनहु लषन खगपतिहि मिले बन मैं पितु मरन न जानेउ।***' (३। १३) ये वाक्य भी इसी बातकी पुष्टि कर रहे हैं। पिताके सखा होनेके नाते वे रक्षक बने और उन्होंने जगत्-विख्यात योद्धा रावणसे सीताजीकी जीतेजी रक्षा की भी। उन्होंने यह जानते ही कि रावण लिये जाता है तुरत सीताजीको ढारस दिया—'***सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधान कर नासा॥***' और साथ ही रावणपर वे यमके समान झपटे और उसको रथसे गिराकर सीताजीको लेकर पृथ्वीपर रखकर फिर रावणसे जाकर जूझे। इतना ही नहीं किंतु रावणको चोंचोंकी चोटसे घायल और मूर्च्छित भी कर दिया। जटायुका यह पुरुषार्थ वे देख रही हैं। (गी० ३। ७) में भी गीधराजके वचन हैं—'***पुत्रि पुत्रि! जनि डरहि, न जैहै नीचु मीचु हौं आयो।***'

पिता या ससुरके समान 'पुत्रि' सम्बोधन करके गृध्रराज रक्षा कर रहे थे, तब सीताका भाग जाना क्योंकर उचित हो सकता था? रक्षामें तत्पर जटायुका पुरुषार्थ देखकर भी भागनेसे उनकी रक्षाकी सरासर अवहेलना होती और उनपर अविश्वास भी प्रकट होता। फिर एक अबला होकर वे रावणसे बचकर छिप कहाँ सकती थीं।—यह तो माधुर्यमें भाव हुआ। ऐश्वर्यमें भाव होगा कि भागकर छिपतीं तो सारी 'ललित नर लीला' ही समाप्त हो जाती।

---

* पं० रा० कु—पं० रामगुलाम द्विवेदीजी यह भाव कहते थे कि 'धरि कच' से चोटी मुड़ाना हुआ, 'खिसिआया' यह मुँहमें कालिख लगी, खच्चर रथमें जुते हैं यही गदहेपर सवार होना है और लंका दक्षिण है उसी ओर जा ही रहा है वा शैव है, अतः भस्म रमाये है, यही कालिख है।'

टिप्पणी—४'*काढ़ेसि परम कराल कृपाना*' इति। यह वही है जिससे वह श्रीसीताजीको डरवावेगा; यथा—'*सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना॥*' (५। १०) यहाँ जटायुने उसका अपमान किया। अतः खिसियाकर उसके लिये कठिन कृपाण निकाला। वैसे ही श्रीसीताद्वारा अपमानित होनेपर वहाँ निकालेगा। यहाँ पंख काट लिये और वहाँ (सुन्दरकाण्डमें) मन्दोदरी आदिके समझानेसे कुछ दिनकी अवधि दी। (ख) इस कृपाणका नाम चन्द्रहास है; यथा—'**चंद्रहास हरु मम परितापं।**'

टिप्पणी—५ '*काटेसि पंख परा खग धरनी*'—पंख ही द्वारा पक्षीका जीवन है, पंख कटनेपर बड़ा कष्ट होता है; यथा—'*जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं।*' (२। १४२) '*जथा पंख बिनु खग अति दीना।*' (६। ६०) भोजन नहीं मिलता; यथा—'*कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहि बारा॥*' (४। २७) (सम्पातीवाक्य)। इसीसे पक्ष ही काट डाले कि कष्ट झेलकर मरे।—(श्रीरामजी शत्रु हैं, उनका पक्ष लिया। अतः पक्ष काटे)। सिर क्यों न काट लिया? अपनी दुर्दशा समझकर मारा नहीं, पक्ष काटे जिसमें कष्ट झेल-झेलकर तड़प-तड़पकर मरे। पुनः, हरि-इच्छासे ऐसा हुआ। सीताजीने कहा था कि '*बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा।*' जटायु सुनानेके लिये जीते रखे गये। सिर काटा होता तो सीताजीकी विपत्ति कौन कहता?

टिप्पणी—६ '*अद्भुत करनी*' यही कि त्रिलोकविजयी रावणसे लड़ा, जीतेजी सीताजीको न ले जाने दिया। यथा—'*फिरत न बारहि बार पचार्यो। चपरि चोंच चंगुल हय हति रथ खंड खंड करि डार्यो॥ बिरथ बिकल कियो, छीनि लीन्हि सिय, घन-घायनि अकुलान्यो। तब असि काढ़ि काटि पर पाँवरु लै प्रभुप्रिया परान्यो॥ रामकाज खगराज आजु लर्यो जियत न जानकि त्यागी। तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य बिहग बड़भागी॥*' (१—३)*

नोट—३ जटायु और रावणका बड़ा घोर और अद्भुत युद्ध हुआ मानो पक्षयुत दो महापर्वत लड़ रहे हों। यथा—'**तद् बभूवाद्भुतं युद्धं गृध्रराक्षसयोस्तदा। सपक्षयोर्माल्यवतोर्महापर्वतयोरिव॥**' (वाल्मी० ३। ५१। ३) वाल्मीकीयमें पढ़ने योग्य है। उससे इस '*जरठ*' जटायुकी शक्ति और अद्भुत करनीका अनुमान होगा। हनुमन्नाटकमें थोड़ेमें बहुत सुन्दर वर्णन है। यथा—'**अक्षं विक्षिपति ध्वजं दलयते मृद्गाति नद्धं युगं चक्रं चूर्णयति क्षिणोति तुरगान्रक्षःपतेः पक्षिराट्। रुन्धन्गार्जति तर्जयत्यभिभवत्यालम्बते ताडयत्याकर्षत्यवलुम्पति प्रचलति न्यञ्चत्युदञ्चत्यपि॥**' (४। ११) अर्थात् पक्षिराज जटायु रावणके रथके धुरीको तोड़ते हैं, ध्वजा तथा दोनों बाँहोंको तोड़ते हैं, चक्रोंको चूर्ण करते, घोड़ोंको घायल करते और रावणको रोकते हुए गर्जन करते हैं तथा ललकारते हैं, उसका तिरस्कार करते हैं और उसे पकड़ लेते हैं। उस रावणको मारते भी हैं। कभी अपनी ओर खींच लेते हैं तथा उसके वस्त्रोंको पकड़कर झटक देते हैं। कभी आप उड़ जाते हैं, कभी उसके प्रहारसे आप नम्र हो जाते हैं और कभी-कभी अपने पंजोंसे उसके सिरपर प्रहार करनेके लिए ऊपरको उड़ जाते हैं।

नोट—४ '*सुमिरि राम*' यथा हनुमन्नाटक—'**ईषत्स्थितासुरपतद्भुवि राम-राम-रामेति मन्त्रमनिशं निगदन्मुमुक्षुः।**' (४। १२) अर्थात् मोक्षकी इच्छासे राम-राम-राम इस मन्त्रको निरन्तर जपते हुए वह पक्षी जिसमें अब कुछ ही प्राण शेष है, पृथ्वीपर गिर पड़ा।

सीतहि जान चढ़ाइ बहोरी। चला उताइल त्रास न थोरी॥ २३॥
करति बिलाप जाति नभ सीता। ब्याध बिबस जनु मृगी सभीता॥ २४॥
गिरि पर बैठे कपिन्ह निहारी। कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी॥ २५॥
एहि बिधि सीतहि सो लै गयऊ। बन असोक महँ राखत भयऊ॥ २६॥

* दीनजी—'अद्भुत' का यहाँ यही force है कि जो रामजीके सोचे हुए लीलामें हितकारी भी होकर अच्छी नीयतसे भी बाधा करता है, उसकी भी वे दुर्दशा करा देते हैं।

शब्दार्थ—'**उताइल**'=(उतायल) उतावलीसे, जल्दी-जल्दी। **जान** (यान)=रथ।

अर्थ—रावण श्रीसीताजीको फिर रथपर चढ़ाकर बहुत शीघ्रतासे चला, उसे बहुत डर लग रहा था (कि कहीं राम आ न जायँ या और कोई उनका सहायक न बीचमें आ पड़े)॥ २३॥ आकाशमें श्रीसीताजी विलाप करती हुई जा रही हैं, मानो व्याधके वशमें पड़कर मृगी सभीत हो॥ २४॥ पर्वतपर बैठे हुए बन्दरोंको देखकर हरि-नाम लेकर उन्होंने वस्त्र डाल दिया॥ २५॥ इस प्रकार वह श्रीसीताको ले गया और उन्हें अशोक वनमें रखा॥ २६॥

टिप्पणी—१ '*ब्याध बिबस जनु मृगी सभीता*' इति। पहले जटायुद्वारा '*अधम निसाचर लीन्हे जाई। जिमि मलेच्छ बस कपिला गाई॥*' ऐसा कहा और अब कहते हैं कि '*ब्याध बिबस*······'। कारण कि गायको म्लेच्छके हाथोंसे सभी छुड़ाते हैं, वहाँ गृध्रराज छुड़ानेको गये। और व्याधाके हाथोंसे हरिणीको कोई नहीं छुड़ाता, वैसे ही अब इनको कोई छुड़ानेवाला नहीं है।

नोट—१ '*कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी*' इति। हनुमन्नाटकमें लिखा है कि श्रीरामजी और लक्ष्मणजीका नाम लिया कि इनको दे देना—'**आकृष्यमाणाऽऽभरणानि मुक्त्वा सैरध्वजी मारुतिमद्रिमौलौ। उवाच रामाय सलक्ष्मणाय वराय देयानि सदेवराय॥**' (४। १५) अर्थात् पर्वतपर हनुमान्‌जीको देखकर आभूषणोंको उनके पास फेंककर कहा कि लक्ष्मणसहित मेरे पतिको दे देना। किष्किन्धामें जो कहा है कि '*मंत्रिन्ह सहित इहाँ इक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा॥ गगनपंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥ राम राम हा राम पुकारी। हमहिं देखि दीन्हेउ पट डारी॥*' वैसा ही वाल्मीकीयमें भी है, यथा—'**ददर्श गिरिशृङ्गस्थान् पञ्च वानरपुङ्गवान्॥ तेषां मध्ये विशालाक्षी कौशेयं कनकप्रभम्। उत्तरीयं वरारोहा शुभान्याभरणानि च॥ मुमोच यदि रामाय शंसेयुरिति भामिनी। वस्त्रमुत्सृज्य तन्मध्ये निक्षिप्तं सहभूषणम्॥**' (सर्ग ३। ५४। १—३) अर्थात् पाँच वानरोंको एक पर्वतशृङ्गपर बैठे देखकर वस्त्रमें आभूषण लपेटकर गिरा दिया जिसमें ये मेरा पता श्रीरामजीको बता सकें। रावण घबराहटके मारे सीताजीके इस कामको न समझ सका।

नोट—२ '*कहि हरि नाम*' इति। 'हरि' नाम श्लेषार्थी है, अतः उसे देखकर जनाया कि—हे हरि (वानरो)! यह पटभूषण हरि (राम) को देना, जो भूभार हरनेको आ रहे हैं और तुम्हारे दुःखको भी वालिका वध करके हरण करेंगे, यह भी कहना कि मेरा हरण हुआ है और यह भी जनाया कि मैं दुःखके हरनेवाले हरि (श्रीरामचन्द्रजी) की पत्नी हूँ, मेरा दुःख शीघ्र हरें। (पं०) पर उपर्युक्त किष्किन्धाके उद्धरणसे 'हरि' का अर्थ 'राम' ही ठीक है। '*पट डारी*' से श्रीसीताजीकी सावधानता सूचित करते हैं कि वे रावणके मरणका उपाय करती जाती हैं और वह नहीं समझ पाता। (खर्रा)

नोट—३ '*बन असोक महँ राखत भयेऊ*' इति। अशोकवनमें रखा जिसमें इनका शोक दूर हो जाय, रामविरहमें शरीर न त्याग दें। वा, यह बाग रावणको प्राणोंसे अधिक प्रिय है, अतः सम्मानार्थ उसमें रखा।

दो०—हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ।
तब असोक पादप तर राखिसि जतनु कराइ॥
जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम॥ २९॥

अर्थ—श्रीसीताजीको बहुत तरह-से डर और प्रीति दिखाकर वह दुष्ट हार गया तब उसने उनको यत्नपूर्वक अशोकवृक्षके नीचे रखा। जिस प्रकार श्रीरामजी कपट मृगके साथ दौड़े चले थे, वही छबि सीताजी हृदयमें रखकर हरि-नाम रटती रहती हैं॥ २९॥

नोट—१ '*बहु बिधि प्रीति*' से वह सब जना दिया जो वाल्मीकिजीने पूरे सर्ग ५५ में दिया है। 'भय' यह दिखाया कि १२ मासमें मुझे स्वीकार न किया तो मार डालूँगा, यथा—'**सीताया वचनं श्रुत्वा**

परुषं रोमहर्षणम्॥ प्रत्युवाच ततः सीतां भयसंदर्शनं वचः। शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान्द्वादश भामिनि॥ कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि। ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः॥'—(स० ५। २३—२५)

टिप्पणी—१ (क) अशोकवनमें क्यों रखा? इसका कारण यहाँ लिखते हैं कि *'हारि परा............'*। अशोकवनमें बहुत-से दिव्य स्थान बने हैं; उनमें जब ये न रहीं, तब अशोकवृक्षके नीचे रखा। (वाल्मी० सर्ग ५५-५६ से स्पष्ट जान पड़ता है कि उसने महलोंमें रखना चाहा और दिव्य रमणीय महल दिखाकर इनको लुभाना चाहा। पर वे किंचित् भी प्रसन्न न हुईं, प्रत्युत उससे कठोर वचन कहे, तब उसने अशोकवनमें रखा)। अथवा, (ख) सीताजीने वनवास-धर्म समझकर यहाँ रहना उचित समझा। (खर्रा) (ग) *'जतनु कराइ'*—उनकी अनुकूल सेवाका एवं कोई उनके पास न जा सके इसका प्रबन्ध करके।

टिप्पणी—२ *'जेहि बिधि कपट कुरंग.........'* अर्थात् धनुष-बाण हाथोंमें लिये, तर्कश कमरमें बाँधे, आगे-आगे मृग पीछे-पीछे आप उसे पकड़ने वा मारनेको जा रहे थे। वही छबि, यथा—*'मम पाछे धर धावत धरे सरासन बान', 'कपट कुरंग संग धर धाये'।* 'श्रीराम' से जनाया कि कपट कुरंगके पीछे धावा करते हुए वे बड़ी शोभाको प्राप्त थे, अतः उसी छबिको हृदयमें धारण किया। [*'सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे। धावनि नवनि बिलोकनि बिथकनि बसै तुलसी उर आछे॥'* (गी० ३। ३) *'राघव भावति मोहि बिपिन की बीथिन्ह धावनि। अरुन कंज बरन चरन सोकहरन अंकुस कुलिस केतु अंकित अवनि॥ सुंदर स्यामल अंग बसन पीत सुरंग, कटि निषंग परिकर मेरवनि। कनक कुरंग संग साजे कर सर चाप राजिव नयन इत उत चितवनि। सोहत सिर मुकुट जटा पटल, निकर सुमन लता सहित रची बनवनि॥'* (गी० ३। ५)—यह ध्यान यहाँ अभिप्रेत है]

टिप्पणी—३ *'रटति रहति हरि नाम'* । (क) 'रटति' से निरन्तर रटना जनाया; यथा—*'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।'* (५। ३०) पुनः भाव कि नामके बलसे जीती हैं; यथा—*'लोचन निज पद जंत्रित प्रान जाहिं केहि बाट।'* (५। ३०) नाम रटनेसे पुनः नामी (मूर्त्ति, रूप) की प्राप्ति होगी; यथा—*'देखिय रूप नाम आधीना।'* नाम और रूप ये दोनों न होते तो न जीवित रहतीं। यथा—*'रसना रटति नाम, कर सिर चिर रहै, नित निज पद कमल निहारे। दरसन आस लालसा मन महँ राखे प्रभु ध्यान प्रान रखवारे॥'* (गी० ५। १०) (ख)*'हरि नाम'*—**क्लेशं हरतीति हरिः**। यहाँ नाम रटनेकी विधिका उपदेश दे रहे हैं कि दृष्टि और मन भी दूसरी ओर न जाय और न दूसरेसे बात करे। तब रूपकी प्राप्ति शीघ्र होती है।

नोट—२ किसीका मत यह भी है कि यहाँ 'हरि' नाम कहा, क्योंकि पतिका नाम नहीं ले सकतीं। हरि श्रीरामजीके राशिका नाम भी है। (प्र०) पर सुग्रीवजीके वचनोंसे 'राम' नाम लेना पाया जाता है—*'राम राम हा राम पुकारी।'* आपत्ति कालमें नाम लेनेका निषेध नहीं है।

यहाँ 'पुनि माया सीता कर हरना' प्रकरण समाप्त हुआ।

'श्रीरघुवीर-विरह-वर्णन'—प्रकरण

रघुपति अनुजहि आवत देखी। बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी॥ १॥
जनकसुता परिहरिहु अकेली। आएहु तात बचन मम पेली॥ २॥
निसिचर निकर फिरहिं बन माहीं। मम मन सीता* आश्रम नाहीं॥ ३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने भाईको आते देखकर ऊपरसे (देखावमात्रकी) बहुत चिन्ता की॥ १॥ हे तात! तुमने जानकीजीको अकेली छोड़ दिया और मेरी आज्ञाको टालकर यहाँ चले आये॥ २॥ निशाचरोंके झुण्ड वनमें फिरते हैं। मेरे मनमें (ऐसा आता है कि) सीता आश्रममें नहीं हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'रघुपति अनुजहि आवत देखी.......'* इति। (क) यहाँ प्रथम श्रीरामजीका लक्ष्मणजीको

* आश्रम सीता—को० रा०।

देखना कहा, क्योंकि वे चिन्तातुर हैं, उनकी दृष्टि पञ्चवटीकी ही ओर है, कहीं लक्ष्मणजी आर्तनाद सुनकर आश्रम छोड़ न दें, यह चिन्ता लगी हुई है।—*'खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा।'* (२८। १) देखिये। (ख) *'बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी'* अर्थात् चिन्ता तो मारीचके नाम लेकर पुकारनेपर ही उत्पन्न हो गयी थी, अब उसका प्रभाव यथार्थ देखा कि सत्य ही लक्ष्मणजी कुटी छोड़कर चले आये। अत: अब 'विशेष' चिन्ता की। (ग) *'बाहिज'* बाह्यका अपभ्रंश है।=बाहरसे, ऊपरसे, यथा—*'बाहिज नम्र देखि मोहि साईं।'* (७। १०५) चिन्ता जब होती है तब मनसे। यह मनका विषय है, इसीसे कवि कहते हैं कि इनके मनमें चिन्ता नहीं है, चिन्ताकी बात केवल मुखसे कही भर है, मुखसे ऐसी बात कही मानो चिन्ता हो। चिन्ताकी जो बात कही वह आगे है। (घ) कविने लेखद्वारा चिन्ताकी विशेषता दिखायी। प्रथम कम थी, अत: एक चरणमें जनाया था। अब अधिक है, अत: दो चौपाइयों (चार चरणोंमें) दिखायी। (ङ) केवल बाहिज चिन्ता है, क्योंकि लीला प्रथम ही वैसी रच रखी है—*'मैं कछु करबि ललित नर लीला।'* यह चिन्ता भी लीला है। [कर्म बाहिज है तथापि दिव्य है, यथा—**'जन्म कर्म च मे दिव्यं'** (गीता) (वन्दनपाठकजी)। दिव्यका अर्थ क्रीड़ारूप भी है।]

टिप्पणी—२ (क) *'जनकसुता परिहरिहु अकेली'* और *'आएहु बचन मम पेली'* का भाव कि तुमने हमारा और जानकीजी दोनोंका अपमान किया। श्रीसीताजी अपने संदेशद्वारा इनको निरपराध ठहरायेंगी। यथा—*'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना।'* यदि इनका अपराध होता तो इनको त्याग देतीं, इनका नाम न लेतीं और न ऐसा संदेश भेजतीं। (ख) चिन्ता क्या है और उसका कारण दोनों कह रहे हैं। *'जनकसुता'* कहकर चिन्ताका कारण जनकमहाराजका सम्बन्ध जनाया। दूसरा कारण *'परिहरिहु.......'* इत्यादिमें है। यथा—'**किं नु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः॥ मातरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम्॥**' (वाल्मी० ३। ६४। ११-१२) अर्थात् हम जानकीजीके पिताके पास जानेपर उनसे क्या कहेंगे। उनकी मातासे यह अप्रिय बात मैं कैसे कहूँगा?

टिप्पणी—३ *'मम मन सीता आश्रम नाहीं'* इति। यथा—'**मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम्। असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता हृता मृता वा पथि वर्तते वा॥**' (वाल्मी० ५७। २३) अर्थात् मेरा मन बहुत ही दीन और हर्षरहित हो रहा है, बायीं आँख फड़ककर अपशकुन जना रही है। अत: नि:संदेह सीता आश्रममें नहीं हैं। या तो उनका हरण हो गया, या वह मारी गयीं, अथवा कोई लिये जा रहा है। श्रीरामचन्द्रजीके बायें अङ्ग फड़क रहे थे। यथा—*'आश्रम आवत चले सगुन न भए भले, फरके बाम बाहु लोचन बिसाल।'* (गी० ३। ९) '**स्फुरते नयनं सव्यं बाहुश्च हृदयं च मे। दृष्ट्वा लक्ष्मण दूरे त्वां सीताविरहितं पथि॥**' (वाल्मी० ५९। ४) अर्थात् जिस समय मैंने तुमको अकेले बिना सीताके मार्गमें देखा, उसी समय मेरी बायीं आँख, वाम भुजा और हृदयका वाम भाग फड़कने लगे। इसीसे निश्चय करते हैं कि सीताजी आश्रममें नहीं हैं।

गहि पदकमल अनुज कर जोरी। कहेउ नाथ कछु मोहि न खोरी॥ ४॥
अनुज समेत गए प्रभु तहवाँ*। गोदावरि तट आश्रम जहवाँ॥ ५॥

अर्थ—भाई लक्ष्मणजीने श्रीरामजीके चरणकमल पकड़कर और फिर हाथ जोड़कर कहा कि हे नाथ! मेरा कुछ भी दोष नहीं है॥ ४॥ तदन्तर भाईसहित प्रभु वहाँ गये जहाँ गोदावरीके किनारे आश्रम था॥ ५॥

नोट—१ *'कछु मोहि न खोरी'* अर्थात् इसमें दोष श्रीसीताजीका है जैसा उन्होंने स्वयं कहा है—*'हा लछिमन तुम्हार नहिं दोषा। सो फल पायउँ कीन्हेउँ रोषा॥'* ☞ देखिये! गोस्वामीजीका कैसा उच्च आदर्श है। उनको लोकशिक्षाके लिये जैसे सीताजीके मुखसे निकले हुए 'मर्म' वचनोंका उल्लेख करना सर्वथा अयोग्य जान पड़ा, वैसे ही यहाँ लक्ष्मणजीसे उन वचनोंका रामजीके उत्तरमें अपनेको निरपराध साबित

* तहाँ......जहाँ—१७०४।

करनेके लिये भी कहलाना सर्वथा अनुचित जान पड़ा। उनको यह न भाया कि जो वाल्मीकिजीने आधे सर्गमें उत्तर दिलाया है उसे यहाँ लिखकर आदर्श गिरा देते। कैसा भोला-भाला, बड़े भाई और बड़ी भावजका पूर्ण सम्मान रखनेवाला और सुशील उत्तर है—इसपर सैकड़ों उत्तर भी निछावर हैं। *'मोहि न खोरी'* में क्या नहीं आ गया?

आश्रम देखि जानकी हीना। भए बिकल जस प्राकृत दीना॥ ६॥
हा गुन खानि जानकी सीता। रूप सील ब्रत नेम पुनीता॥ ७॥
लछिमन समुझाए बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाती॥ ८॥

शब्दार्थ—**पाती** =पंक्ति, यथा—*'जासु बिरह सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुनगन पाती॥'*

अर्थ—आश्रमको श्रीजानकीजीसे रहित (खाली) देखकर व्याकुल हुए, जैसे साधारण मनुष्य व्याकुल होते हैं॥ ६॥ हा गुणोंकी खानि जानकी! हा रूप, शील, व्रत और नियममें पवित्र सीते! (तुम कहाँ गयीं? क्या हुई?)॥ ७॥ लक्ष्मणजीने बहुत तरहसे समझाया तब श्रीरामजी लताओं और वृक्षोंकी पंक्ति (कतारों) से पूछते हुए चले॥ ८॥

नोट—१ सूने आश्रमका वर्णन, यथा—*'सरित जल मलिन, सरनि सूखे नलिन, अलि न गुंजत, कल कूजैं न मराल। कोलिनि कोल किरात जहाँ तहाँ बिलखात, बन न बिलोकि जात खगमृगमाल॥ तरु जे जानकी लाए, ज्याए हरि करि कपि, हेरैं न हुँकरि, झरैं फल न रसाल। जे सुक सारिका पाले, मातु ज्यों ललकि लाले तेऊ न पढ़त न पढ़ावै मुनिबाल॥ समुझि सहमे सुठि प्रिया तौ न आई उठि, तुलसी बिबरन परनतृनसाल। औरै सो सब समाजु कुसल न देखौं आज गहबर हिय कहैं कोसलपाल॥'* (गी० ३। ९। २—४)

नोट—२ *'भए बिकल जस प्राकृत दीना'* इति। भाव कि ये प्राकृत मनुष्य नहीं हैं, ये तो ब्रह्म हैं पर रावण-वधके लिये इन्होंने नररूप धारण किया है। उसीके अनुसार यहाँ विलापादि नर-नाट्य कर रहे हैं—*'जस काछिय तस चाहिय नाचा।'* मिलान कीजिये **'सर्वज्ञः सर्वथा क्वापि नापश्यद्रघुनन्दनः। आनन्दोऽप्यन्वशोचत्तामचलोऽप्यनुधावति॥ निर्ममो निरहङ्कारोऽप्यखण्डानन्दरूपवान्। मम जायेति सीतेति विललापातिदुःखितः॥'** (अ० रा० ३। ८। १९-२०)

नोट—३ *'जानकी सीता'* में पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि यहाँ विलाप है, विषादमें यह दोष नहीं लिया जाता। यथा—**'विषादे विस्मये कोपे हर्षे दैन्येऽवधारणे। प्रसादे चानुकम्पायां पुनरुक्तिर्नदूष्यते॥'** (खर्रा) दूसरे, यहाँ दो शब्दोंसे विभिन्न भाव सूचित किया है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है। *'जानकी'* का भाव ***'जनकसुता परिहरेहु।'*** चौ० (२) में देखिये। *'सीता'* का भाव कि जैसे तुम भूमिसे प्रकट हुई थीं, वैसे ही कहीं भूमिमें गुप्त होकर मेरे प्रेमकी परीक्षा तो नहीं कर रही हो। (प० प० प्र०) अथवा, हमें सदा शीतल किया करती थीं, आज हमें शीतल करने क्यों नहीं आ रही हो। (वाल्मी० ३। ६२। १२—१४) के **'निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिलाधिपम्॥ कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ष्ये निरीक्षितुम्। विदेहराजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया॥ सुताविनाशसंतप्तो मोहस्य वशमेष्यति।'** इस उद्धरणमें *'हा जानकी'* का, और ६४। १२-१३ के **'या मे राज्यविहीनस्य वने वन्येन जीवतः॥ सर्वं व्यपानयच्छोकं वैदेही क्व नु सा गता।'** इस श्लोकमें *'हा सीता'* का भाव है। अर्थात् 'वनवाससे लौटनेपर मिथिलापति जब मुझसे कुशल पूछेंगे तब मैं उनकी ओर कैसे देख सकूँगा! जानकीसे विरहित मुझको देखकर पुत्रीका नाश जानकर वे अवश्य मूर्च्छित हो जायँगे।' 'राज्यहीन वनमें वनवासीके समान रहते हुए भी मेरे दुःखोंको जो दूर करती थी वह सीता कहाँ है?' इस तरह यहाँ *'जानकी'* शब्दसे जनकमहाराजके सम्बन्धसे शोकातुर जनाया और *'सीता'* से अपने हृदयको शीतल करनेवाली होनेके सम्बन्धसे शोक जनाया। हनु० ५—८ में भी **'सीतेति हा जनकवंशजवैजयन्ति'** कहा है।

प० प० प्र०—*'रूप सील ब्रत नेम पुनीता'*, यथा—*'सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला।'* (२४। १) भाव कि तेरे अनुपम रूपपर मोहित होकर कोई निशाचर तुझको ले तो नहीं गया। तुम्हारा शील, सतीत्व पातिव्रत्यके

नियमों और तेरे पातिव्रत्यका रक्षण कैसे होता होगा? '**भर्ता रक्षति यौवने**' वाला कर्तव्य तो मुझसे बना नहीं। अब क्या होगा, क्या करना चाहिये, वह मुझे क्यों नहीं बतातीं? '**कार्येषु मन्त्री**' यह भी तो तेरा अधिकार है। ['***रूप सील*****……**' में (गी० ३। १०) के '***उठी न सलिल लिये प्रेम प्रमुदित हिये प्रिया न पुलकि प्रिय बचन कहे***' का भाव है कि जब मैं बाहरसे आता था तब तुम आगे आकर मुझे लेती थीं, तुम्हारे रूपको देखकर मैं श्रमरहित हो जाता था, तुम मुझे देखकर प्रेमसे प्रमुदित हृदय होकर चरण धोती थीं, मधुर प्रिय वचन बोलती थीं, आज क्यों नहीं दर्शन देतीं, आज उस शील और व्रत-नियम आदिका पालन क्यों नहीं करती हो? आज क्यों छिपी हो? क्या हमारे प्रेमकी परीक्षा तो नहीं ले रही हो? इत्यादि।]

नोट—४ वाल्मीकीयमें बहुत लिखा है कि किस प्रकार समझाया। वही यहाँ '***बहु भाँती***' से जना दिया। वाल्मीकीयमें लक्ष्मणजीने समझाया है कि आप शोक न करें, मेरे साथ सीताजीको ढूँढ़ें। वे वनमें गयी होंगी या किसी तालाबपर होंगी, जहाँ कमल खिल रहे होंगे या नदीतटपर होंगी……। जहाँ-जहाँ उनके होनेकी सम्भावना हो वह सब स्थान हमलोग ढूँढ़ें। इत्यादि। (३। ६१। १४—१८) इस आये हुए दुःखको यदि आप न सहेंगे तो प्राकृत मनुष्य कैसे सह सकेंगे। आप धैर्य धारण करें। आपत्ति किसपर नहीं आती? सभीपर आती है और फिर चली जाती है। यह प्रकृतिका स्वभाव है। आप अपने पौरुषको विचारें और शत्रुके नाशका प्रयत्न करें (सर्ग ६६। ४—२०)। इसी तरह बराबर जहाँ-तहाँ समझाया है। '……पातालमें भी रावण होगा तो भी वह अब जीता नहीं रह सकता। उसका पता लगाना उचित है, तब या तो वह श्रीसीताजीको ही देगा या अपने प्राण देगा। वह अपनी माताके गर्भमें भी यदि पुनः प्रवेश करके बचना चाहे तो भी वह मुझसे बच नहीं सकता……इत्यादि।' यथा—'**संस्तम्भ रामभद्रं ते मा शुचः पुरुषोत्तम। नेदृशानां मतिर्मन्दा भवत्यकलुषात्मनाम्॥ स्मृत्वा वियोगजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रिये जने। अतिस्नेहपरिष्वङ्गाद्वर्तिरार्द्रापि दह्यते॥ यदि गच्छति पाताले ततोऽभ्यधिकमेव वा। सर्वथा रावणस्तात न भविष्यति राघव॥ प्रवृत्तिर्लभ्यतां तावत्तस्य पापस्य रक्षसः। ततो हास्यति वा सीतां निधनं वा गमिष्यति॥ यदि याति दितेर्गर्भं रावणः सह सीतया। तत्राप्येनं हनिष्यामि न चेद्दास्यति मैथिलीम्॥ स्वास्थ्यं भद्रं भजस्वार्य त्यज्यतां कृपणा मतिः। अर्थो हि नष्टकार्यार्थैरयत्नेनाधिगम्यते॥ उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम्। सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम्॥ उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु। उत्साहमात्रमाश्रित्य प्रतिलप्स्याम जानकीम्॥**' (वाल्मी० ४। १। ११५—१२२)

टिप्पणी—१ '***पूछत चले लता तरु पाती***' इति। भाव कि—(क) निर्जन वन है, यहाँ और कौन है जिससे पूछते। यहाँ उन्माद-संचारी भाव है। जड़ चेतनका खयाल नहीं रह गया। पुनः, (ख) अयोग्यसे पूछना दिखाया, इसीसे आगे '***बिलपत***' पद दिया गया है।

नोट—५ (क) '***पूछत चले लता तरु पाती***' इति। ये लताएँ, वृक्ष आदि वे हैं जो सीताजीको प्रिय थीं, जहाँ दम्पति बैठा करते थे; यथा—'**अस्ति कच्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया……अथवार्जुन शंस त्वं प्रियां तामर्जुनप्रियाम्।……कर्णिकारप्रियां साध्वीं शंस दृष्टा यदि प्रिया।**' (वाल्मी० ३। ६०। १२, १४, २०) अथवा, जिन वृक्षों आदिके किसी अङ्गमें श्रीजानकीजीके अङ्गका सादृश्य पाते थे, उनसे पूछते थे। इस तरह उनका बिल्व, आम्र, नीम, साल, कटहल, कुरर और अनार आदि वृक्षोंसे पूछना पाया जाता है। अथवा, (ख) श्रीजानकीजीके अङ्गोंकी उपमाद्वारा सुन्दरता कह-कहकर वृक्षों आदिसे पूछते थे। यथा—'**हे वृक्षाः पर्वतस्था गिरिगहनलता वायुना वीज्यमाना रामोऽहं व्याकुलात्मा दशरथतनयः शोकशुक्रेण दग्धः। बिम्बोष्ठी चारुनेत्री सुविपुलजघना बद्धनागेन्द्रकाञ्ची हा सीता केन नीता मम हृदयगता को भवान् केन दृष्टा॥**' '**हे गोदावरि पुण्यवारिपुलिने सीता न दृष्टा त्वया सा हर्तुं कमलानि चागतवती याता विनोदाय वा। इत्येवं प्रतिपादपं प्रतिनगं प्रत्यापगं प्रत्यगं प्रत्येणं प्रतिबर्हिणं तत इतस्तां मैथिलीं याचते॥**' (हनु० ५। १०-११) अर्थात् हे पर्वतस्थित वायुद्वारा कम्पित वृक्षो! बिम्बोष्ठी, सुन्दर नेत्रों, पुष्ट जंघाओं, मुक्ताओंसे जटित करधनी धारण करनेवाली, मेरे हृदयमें बसी हुई सीताको कौन ले गया? क्या तुममेंसे किसीने देखा है? हे पुण्यसलिला गोदावरि!

क्या तुमने सीताको नहीं देखा? क्या वह कहीं कमल लेनेको तो नहीं गयी, अथवा तुम्हारे तटपर कहीं खेलनेको गयी है? इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी प्रत्येक वृक्ष, प्रत्येक पत्थर, प्रत्येक नदी, प्रत्येक मृग और प्रत्येक मयूर आदिसे जानकीजीको पूछते हैं। (ग) *'पूछत चले'* से जनाया कि वे पूछते हैं पर कोई उत्तर नहीं देता। सादृश्य देखकर वे शोकके कारण उद्भ्रान्त हो जाते हैं। यथा—'**क्वचिदुद्भ्रमते योगात्क्वचिद्विभ्रमते बलात्**।' (३। ६०। ३६) वाल्मीकिजी लिखते हैं कि बहुत-से प्राणियोंको मालूम था कि रावण हर ले गया पर उसके भयानक रूप और कर्मोंसे डरकर कोई कहता न था। (सर्ग ६४)

प० प० प्र०—जब किसीने न बतलाया तब संक्रुद्ध हो विश्वका संहार करनेपर उद्यत देख श्रीरामजीको लक्ष्मणजीने समझाया। 'भावार्थ-रामायण' में इसका विशेष विस्तार है। इसी समय सतीजी सीताजीके वेषमें आती हैं और लक्ष्मणजी कहते हैं कि देखिये वे तो आ गयीं। आप क्यों विलाप करते हैं। भावार्थ-रामायणमें इस प्रसंगपर बीसों संस्कृत रामायणोंका प्रमाण दिया गया है। अध्याय २० देखिये।

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनयनी॥ ९ ॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥ १०॥
कुंदकली दाडिम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी॥ ११॥
बरुनपास मनोजधनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥ १२॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥ १३॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥ १४॥

शब्दार्थ—'**कपोत**' उस कबूतरको कहते है कि जिसकी गर्दन सुन्दर होती है जिसे लक्का कबूतर कहते हैं। **पास**=पाश—पाशके अवयव सूक्ष्म लोहेके त्रिकोण होते हैं, परिधिपर सीसेकी गोलियाँ लगी होती हैं। युद्धके अतिरिक्त अपराधियोंको दण्ड देनेमें भी इसका व्यवहार होता है। यह वरुणका आयुध है। पाश प्रायः दस हाथका और गोल होता है और इसकी डोरी सूत, गून, मूँज, ताँत, चर्म आदिकी होती है। फंदा।

अर्थ—हे पक्षियो! हे मृगो! हे भ्रमरोंकी पंक्ति! तुमने कहीं मृगनयनी सीताको देखा है?॥ ९॥ खंजन, तोता, कबूतर, हरिण, मछली, भौरोंका समूह, सुन्दर स्वरमें निपुण कोयल, कुन्दकली, अनार, बिजली, शरद्ऋतुके कमल और चन्द्रमा, नागिन, वरुणकी फाँसी वा फंदा; कामदेवका धनुष, हंस, गज, सिंह—ये सब आज अपनी प्रशंसा सुन रहे हैं। अर्थात् तुम्हारे सामने ये लज्जित होते थे, इनसे कोई कवि तुम्हारे अङ्गकी उपमा (उन्हें महातुच्छ जानकर) नहीं देते थे॥ (१०—१२) बेल, सुवर्ण और केला* सब प्रसन्न हो रहे हैं, जरा भी शङ्का और संकोच इनके मनमें नहीं है॥ १३॥ हे जानकी! सुनो! आज तेरे बिना ये सभी ऐसे प्रसन्न हो रहे हैं, मानो राज्य पा गये है॥ १४॥

नोट—१ *'हे खग मृग""""तुम्ह देखी मृगनयनी'* इति। (क) यहाँतक वृक्षों, लताओं, पक्षियों, पशुओं, भ्रमरोंसे पूछना कहा। *'सीता मृगनयनी'* से जनाया कि सीताजीके अङ्गोंकी उपमा दे-देकर प्रत्येकसे पूछते हैं जैसा ऊपर चौ० ७-८ के नोटमें लिखा गया है। *'खंजन सुक'* से *'गज केहरि'* तक गिनाकर *'निज सुनत प्रसंसा'* कहनेसे सूचित हुआ कि खंजन शुक आदिकी उपमाएँ दे-देकर वृक्षों, लताओं, पशुओं, पक्षियों आदिसे जानकीजीका पता पूछते हैं, इसीसे आज सब अपनी प्रशंसा सुन रहे हैं, नहीं तो पहले उनकी निन्दा किया करते थे; यथा—*'सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी॥'* (१। २३०। ८) इन उपमानोंसे इस समय किस-किस अङ्गकी शोभा कही गयी है यह आगे नोट ३ में लिखा गया है।

(ख) *'खग मृग'* से ही प्रारम्भ करनेका भाव कि इन्हींसे आगे जानकीजीका समाचार मिलेगा। खगराज जटायु और वानर सुग्रीवके द्वारा श्रीजानकीजीका पता मिलेगा।

* प० प० प्र०—'कनक कदलि' को एक ही शब्द मानना ठीक होगा अन्यथा 'दामिनि' और 'कनक' एकार्थ शब्द होनेसे द्विरुक्ति होगी।

नोटー२ ☞ स्त्रियोंके जिन अङ्गोंकी उपमा कवि जिस वृक्ष, पक्षी, पशु और फल आदिसे दिया करते हैं, उनको वनमें मार्गमें चलते हुए देखनेसे श्रीसीताजीके उन अङ्गोंका स्मरण हो आता है, जिससे विरहका उद्दीपन होता है। श्रीरामजी नर-नाट्य करते हुए प्राकृत मनुष्य-सरीखे उन्हें देखकर व्याकुल होते हैं। उन्हीं उपमानोंके नाम यहाँ कहकर उनसे उपमेयोंका बोध कराया है।

☞ पूज्य कवि बालकाण्डमें श्रीसीताजीकी शोभाके सम्बन्धमें लिख आये हैं कि *'सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूपगुनखानी॥ उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं॥ सीय बरनि तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई॥'* (१। २४७) अर्थात् माताके अङ्गोंका वर्णन पुत्र कैसे कर सकता है? दूसरे, जितनी उपमाएँ हैं वे सब अत्यन्त लघु हैं और प्राकृत स्त्रियोंके लिये दी जा चुकी हैं, वे उपमाएँ उनमें लगकर जूठी हो गयीं। तब उनकी शोभा क्योंकर वर्णन की जा सकती है?

☞ यहाँ कविने गुप्त रीतिसे अङ्गोंकी शोभाका वर्णन पतिके मुखसे करा दिया है। पतिको पत्नीकी शोभावर्णनका अधिकार है। अतः कविने जगत्पिताके मुखसे जगज्जननीके अङ्गोंकी शोभाका वर्णन गुप्त रीतिसे कर भी दिया है और साथ ही अपने वचनोंका निर्वाह भी *'सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥ किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं।'* इन शब्दोंद्वारा कर दिया है।

नोटー३ कवि प्रायः खंजन, हिरन और मीनकी उपमाएँ आँखोंके लिये दिया करते हैं, यथाー*'खंजन मंजु तिरीछे नयननि।'* (२। ११७) *'मनहु इंदु बिंब मध्य कंज मीन खंजन लखि मधुप मकर कीर आए तकि तकि निज गौहैं।'* (गी० ७। ४) *'मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ।'* (२। ६३) *'जहँ बिलोकि मृगसावकनयनी।'* इसी तरह शुकतुण्डसे नासिकाकी, यथाー*'चारु चिबुक सुकतुंड बिनिंदक सुभग सुउन्नत नासा।'* (गी० ७। १२) *'चारु भ्रूनासिका सुभग सुक-आननी।'* (गी० ७। ५) कपोतसे कण्ठ, ग्रीवा वा गर्दनकी*, भ्रमरावलीसे काले बालोंकी, यथाー*'कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं।'* (१। २४३) *'कुटिल केस जनु मधुप समाजा।'* (१। १४७) कोकिलसे मधुर स्वर वा वचनकी, यथाー*'सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥'* (२। ११७) कुन्दकली और अनारदानेसे दाँतोंकी पंक्ति की, बिजलीसे दाँतोंकी कान्ति और मुसकान की, यथाー*'बरदंत की पंगति कुंदकली अधराधरपल्लव खोलन की।'* (क० १। ५) *'कुलिस कुंद कुडमल दामिनिद्युति दसननि देखि लजाई।'* (वि० ६२) दामिनिसे वर्णकी, यथाー*'दामिनि बरन लषन सुठि नीके।'* (२। ११५) शरद् कमल और शरद् चन्द्रसे मुख और नेत्रकी, यथाー*'सरद सरबरीनाथ मुख सरद सरोरुह नयन।'* (२। ११६) *'नवकंज लोचन कंज मुख……'* (वि० ४५) नागिनसे चोटी वा लटकी* वरुणपाशसे कण्ठकी रेखाओंकी मनोजचापसे भृकुटिकी, यथाー*'भृकुटि मनोजचाप छबिहारी।'* (१। १४७) हंस और गजसे चालकी, यथाー*'हंसगवनि तुम्ह नहिं बनजोगू।'* (२। ६३) *'चलीं मुदित परिछनि करन गजगामिनि बर नारि।'* (१। ३१७) *'जनकसुता कै सुधि भामिनी। जानहि कहु करि बर गामिनी॥'* (४। ३६) सिंहसे कमरकी, यथाー*'केहरि कटि पट पीतधर।'* (१। २३३) श्रीफलसे पयोधरकी† । कनकसे वर्णकी, यथाー*'इन्ह ते लहि दुति मरकत सोने।'* (२। ११६) *'मरकत कनक बरन बर जोरी।'* और कदलीसे जंघाकी उपमा देते हैं, यथाー*'जंघा जानु आनु केदलि उर कटि किंकिनि पट पीत सुहावन।'* (गी० ७। १६) *'गूढ गुलुफ जंघा कदली जति।'* (गी० ७। १७) (पं० रा० कु०)

नोटー४ ☞किस उपमासे अङ्गका क्या साम्य दिखाया जाता है यह भी सुनिये। नेत्रोंकी चञ्चलता, सफेदी और स्याहीकी रेखाके लिये खंजनकी, जलभरी, विशाल और उभरी हुईमें मृगकी और आँखके आकार और चमकमें मीनकी, आर्द्र, कोमलता और दीर्घ होनेमें कमलकी उपमा दी जाती है। दाँतोंकी सुन्दरता यह है कि वे सटे हुए हों, जड़ोंमें ललाई लिये हों, चमकदार हों, इस साम्यके लिये कुन्दकी

* इनके उदाहरण गोस्वामीजीके ग्रन्थोंमें अन्यत्र नहीं मिले।

† इनके उदाहरण गोस्वामीजीके ग्रन्थोंमें अन्यत्र नहीं मिले।

कली, अनारदानेकी सटी मिली हुई पंक्ति और बिजलीकी कान्तिकी उपमा दी जाती है। कमलकी उपमा हाथ, पैर, मुख सभीके लिये प्रयुक्त होती है। दामिनीकी उपमा शरीरके वर्णसे भी दी जाती है, यथा—*'स्याम सरोज जलद सुंदर बर दुलहिनि तड़ित बरन तनु गोरी।'* (गी० १। १०३) करुणासिन्धुजी वरुणपाशको नेत्रोंके कटाक्ष एवं नाभिकी और बैजनाथजी छूटे हुए बालोंकी उपमा कहते हैं। मन्दहास्यके लिये भी कोई पाशकी उपमा देते हैं। स्त्रीकी हँसी मनुष्यके लिये फाँसी है। शेष साम्य नोट ३ के उदाहरणोंमेंसे स्पष्ट हो जाता है।

खर्रा—*'नेकु न संक सकुच मन माहीं'* इति। (क) शङ्का इस बातकी नहीं है कि श्रीजानकीजी फिर आवेंगी और संकोच नहीं कि हम श्रीसीताजीके अङ्गोंके सदृश नहीं हैं, अर्थात् अपनी न्यूनताका सङ्कोच नहीं रह गया। तुम्हारे रहते सबकी निन्दा होती थी, ये निन्दा सुना करते थे, अब अपनी प्रशंसा सुनते हैं। यह सहेतुक है इसलिये संजल्प है। आगे जो *'प्रिया बेगि प्रगटसि'*……' यह वाक्य मुद्रा व्यञ्जित किया। यहाँ हेतुपूर्वक पूर्ण अभिधेय कहा अतएव संजल्प हुआ। (ख) पहलेके अर्थात् *'खंजन'* से लेकर *'गज केहरि'* तकके लिये कहा कि *'सुनत प्रसंसा'* और श्रीफल आदिके लिये कहा कि *'नेकु न संक'*……'। कारण कि ये अङ्ग जिनके ये उपमान हैं सदा आवरणमें (ढके) रहते हैं और वे सब निरावरण हैं। अतएव यहाँ सङ्कोच और शङ्क पद दिये। भाव कि इन उपमानोंको लज्जा वा शङ्का नहीं है। ये बाहर स्पष्ट देख पड़ते हैं। (पं० रा० कु०)

नोट—५ श्रीहनुमन्नाटकके निम्न श्लोकोंसे इस चौपाईका भाव कि पहले ये सब शङ्का और सङ्कोच मानते थे शीघ्र समझमें आ जायगा।

(१) **'अरण्यं सारङ्गैर्गिरिकुहरगर्भाश्च हरिभिर्दिशो दिङ्मातङ्गैः श्रितमपि वनं पङ्कजवनैः। प्रिया चक्षुर्मध्यस्तनवदनसौन्दर्य विजितैः सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरसरणम्॥'** (२। २३) अर्थात् हरिण तेरे नेत्रोंको अपने नेत्रोंसे अधिक सुन्दर जानकर लज्जित हो वनको चले गये, सिंह तेरी कमरको अपनी कमरसे विशेष सूक्ष्म जानकर लज्जासे पर्वतोंकी गुहाओंमें छिप गये, अपने गण्डस्थलोंसे तेरे स्तनोंको विशेष सुन्दर जानकर दिक्कुञ्जर लज्जित हो दिशाओंमें चले गये तथा कमलोंने तेरे मुखकी शोभाको देख लज्जासे जलका आश्रय ले लिया।

(२) **'वक्त्रं वनान्ते सरसीरुहाणि भृङ्गाक्षमाला जगृहुर्जपाय। एणीदृशस्तेऽप्यवलोक्य वेणीमङ्गं भुजङ्गाधिपतिर्जुगोप॥'** (२। २४) अर्थात् तेरे मुखको देखकर लज्जासे जलमें बैठकर कमल भृंगाक्षमाला (भ्रमररूपी माला) को लेकर जप करने लगा (कि ईश्वराराधनसे मेरी शोभा जानकीके मुखके समान हो जाय) और तेरी वेणीको देखकर सर्पराजने (यह सोचकर कि तेरी वेणी अधिक कोमल और श्यामवर्णवाली है) अपने शरीरको पाताल अथवा केंचुलमें छिपा लिया।

(३) **'स्वर्णं सुवर्णं दहने स्वदेहं चिक्षेप कान्तिं तव दन्तपङ्क्तिम्। विलोक्य तूर्णं मणिबीजपूर्णं फलं विदीर्णं ननु दाडिमस्य॥'** (२। २५) अर्थात् सुन्दर वर्णको देखकर सुवर्णने अपने देहको (यह सोचकर कि स्यात् बारम्बार अग्निमें तपनेसे मेरा वर्ण अधिक निर्मल हो जाय अथवा लज्जासे) अग्निमें डाल दिया तेरे दन्तपंक्तिकी कान्तिको देखकर मणियोंके समान बीजों (दोनों) से युक्त अनार शीघ्र ही विदीर्ण हो गये।

(४) **'वदनममृतरश्मिं पश्य कान्ते तवोर्व्यामनिलतुलनदण्डेनास्य वार्धौ विधाता। स्थितमतुलयदिन्दुः खेचरोऽभूल्लघुत्वात्क्षिपति च परिपूर्त्यै तस्य तारः किमेताः॥'** (२। २६) अर्थात् हे सुन्दर वर्णवाली! ब्रह्माने तेरे मुखको और अमृत-किरणवाले चन्द्रमाको वायुरूपी तराजूमें तोला तो चन्द्रमा हलका होनेसे आकाशगामी हो गया तब उस कमीकी पूर्तिके लिये तारागणको भी पलड़ेमें रखा फिर भी तेरे मुखके तुल्य न हुआ*।

(५) **'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन गलिता दृष्टिर्मृगीणामिव प्रम्लानारुणमेव विद्रुमदलं श्यामेव हेमप्रभा। पारुष्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं सीतायाः पुरतस्तु हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव॥'** (हनु० ५। ६३)

* ये चारों श्लोक विवाहके बाद राज्याभिषेकके प्रसंगके पहलेके हैं।

'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरं मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी। तेऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गतास्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥' (६४) अर्थात् (श्रीजानकीजीकी मनोहरताका स्मरण करके कहते हैं) तेरे सामने चन्द्रमा मानो अंजनसे लिप्त हुएके समान हो गया, मृगियोंकी दृष्टि लज्जित हो गयी, मूँगेकी लाली मलिन हो गयी, स्वर्णकी कान्ति श्याम हो गयी, शब्दके लेशमात्रसे कोकिलोंके कण्ठोंमें मानो कठोरता प्रकट हो गयी और मोरोंके पिच्छ निन्दनीय हो गये॥ तेरे नेत्रोंके समान जो नीला कमल था वह जलमें मग्न हो गया। तेरे मुखका अनुकरण करनेवाला चन्द्रमा बादलमें छिप गया और तेरी चालके अनुकारी राजहंस भी चले गये। मेरे दैवसे तेरे समान पदार्थोंका विनोदमात्र भी न सहा गया।

इन उपर्युक्त श्लोकोंमें हिरन, कोकिला, अनार, कमल, चन्द्रमा, सर्पिणी, गज, सिंह और सुवर्ण इतने नाम आ गये। इसी प्रकार खंजन, शुक, कपोत, मीन, भ्रमरावली, दामिनी, वरुणपाश, कामधनुष, हंस, श्रीफल और कदली उपमानोंके भाव पाठक एवं कथावाचक लगा लें।

टिप्पणी—१ ***'हरषे सकल पाइ जनु राजू'*** इति। (क) पहले श्रीफल, कनक और कदली तीनका ही हर्ष कहा, अब सबका हर्ष कहते हैं। जब इनसे पूछा और ये न बोले तब श्रीरामजीने कहा—'हे सीते! ये मानो राज्य-सा पा गये कि बोलते ही नहीं। आज प्रशंसारूपी ऐश्वर्य पाकर अहङ्कार हो गया—***'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं।'*** (ख) ***'आजू'*** का भाव कि यह प्रथम दिवसका विरह है। अतएव कहा कि आज राज पा गये, इसीसे ***'बेगि'*** प्रकट होकर तुरत इनके राज्य पानेका हर्ष हरण कर लो, बहुत दिन इनका हर्ष न रहने दो, इनको जीतकर इनका राज्य ले लो। राजाको जीतने अथवा राज्य खाली होनेपर राज्यपर बैठ जानेसे राज्य मिलता है। वही यहाँ कह रहे हैं—***'सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥'*** उपमान उपमेयका तावेदार (किंकर) है। आज उपमेयके न रहनेपर वह राज्य करने लगा, यह अनखकी बात है। इसीपर आगे कहते हैं—***'किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं।'***

नोट—६ ***'हरषे सकल.........'*** इति। भाव कि उपमेयसे सदा उपमान अपमानित होते थे, इससे कभी दृष्टिमें न आते थे, आज तेरे न रहनेपर सब विरह बढ़ानेके लिये सामने आ रहे हैं। तुम्हारे वैरियोंका हर्ष हमसे सहा नहीं जाता। मिलान कीजिये। यथा—**'मध्योऽयं हरिभिः स्मितं हिमरुचा नेत्रे कुरङ्गीगणैः कान्तिश्चम्पककुड्मलैः कलरवो हा हा हृतः कोकिलैः। मातङ्गैर्गमनं कथं कथमहो हंसैर्विभज्याधुना कान्तारे सकलैर्विनाश्य पशुवन्नीतासि भो मैथिलि।'** (हनु० ५। ३) अर्थात् तेरी कमरको सिंहोंने, हास्यको चन्द्रमाने, नेत्रोंको मृगगणने, कान्तिको चम्पककी कलियोंने, मनोहर शब्दको कोकिलाने, चालको हाथियों और हंसोंने हर लिया। बड़े आश्चर्यकी बात है कि किसी-न-किसी प्रकारसे आज सबोंने इस वनमें तुमको बाँटकर ले लिया।

लाला भगवानदीन (दीनजी)—इन चौपाइयोंमें (६से १३ तक) श्रीसीतामहारानीजीके अङ्गोंका वर्णन बड़े सुन्दर ढंगसे 'रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार' द्वारा मर्यादासहित उनके पतिसे ही कराया है। यह शृङ्गारकी मर्यादा है। दूसरेको किसी स्त्रीके अङ्गोंका वर्णन करना शिष्ट मर्यादाके विरुद्ध है। यह 'वियोग शृङ्गार' का एक अंश है। ग्यारह अवस्थाओंमेंसे यह 'गुणकथन' अवस्था है।

रा० प्र० श०—केशवदासजीने कहा है—***'चारि चतुष्पद चारि खग मूल चारि फल चारि। केशौ पूरी पुण्य है मिलै जो ऐसी नारि॥'***

☞ जैसे श्रीजानकीजी श्रीरामजीके नाम, रूप, गुणका स्मरण करती रहीं, वैसे ही श्रीरामजीने भी उनका स्मरण किया। परस्पर मिलान—

नाम—*हा जग एक बीर रघुराया*	*हा गुनखानि जानकी सीता*
गुण—*आरति हरण शरण सुखदायक*	*रूप शील व्रत नेम पुनीता*
रूप—*जेहि बिधि कपट कुरंग........*	*खंजन शुक कपोत..........*
बिबिध बिलाप करति बैदही...........	*एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी..........*

किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं। प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं॥ १५॥
एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहुँ महाबिरही अति कामी॥ १६॥
पूरनकामु राम सुखरासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी॥ १७॥

शब्दार्थ—'**अनख**' =ईर्ष्या अपमानजनित क्रोध।

अर्थ—तुमसे यह अनख कैसे सहा जाता है? हे प्रिये! तुम शीघ्र ही प्रकट क्यों नहीं होती हो॥ १५॥ इस प्रकार (चराचरके) स्वामी ढूँढ़ते और विलाप करते हैं, मानो महाविरही और बड़े ही कामी हैं॥ १६॥ श्रीरामजी पूर्णकाम, आनन्दकी राशि, अजन्मा और विनाशरहित हैं, वे मनुष्यके-से चरित कर रहे हैं॥ १७॥

खर्रा—'***किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं।*** ………' इति। भाव कि सहता तो वह है जो दबनेवाला हो, कमजोर हो, वा बराबरका न हो। तुमसे कैसे सहा जाता है? हमसे तो उनकी ईर्ष्या नहीं सही जाती। तुम 'सर्वसहा' पृथ्वीकी कन्या हो और हम चक्रवर्तीके राजकुमार हैं, अतएव तुम भले ही सह सकती हो, पर हम नहीं सह सकते। पुनः, भाव कि तुम्हारे न रहनेसे सब प्रसन्न हैं। तुमसे सभी ईर्ष्या करनेवाले हैं, तब तुम क्यों नहीं ईर्ष्या करके प्रकट हो जाती हो। जो कम होता है, वह छिप बैठता है, यथा—'***दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरि॥***' तुम तो कम नहीं हो तब तुम क्यों छिपी बैठी हो। गुलाम ताबेदार राज्य खाली पाकर उसपर बैठ गया है, यह अनखकी बात है जो सहने योग्य नहीं है।

टिप्पणी—१ '***एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी***' इति। (क) '***पूछत चले लता तरु पाती॥ हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनयनी॥***' '***एहि बिधि खोजत***' और '***हा गुनखानि जानकी सीता***' से '***प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं***' तक '***एहि बिधि बिलपत***' प्रसंग है। (ख) 'स्वामी'—वक्ता कहते हैं कि जो यह चरित कर रहे हैं वे हम सबके और चराचरमात्रके स्वामी हैं; यथा—'***सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥***' (१। ११९। २) [पुनः; '***स्वामी***' से जनाया कि ये मन और इन्द्रियोंके स्वामी हैं। मन और इन्द्रियाँ इनके वशमें हैं तथापि '***मनुज चरित कर अज अबिनासी।***' (प० प० प्र०)] (ग) '***मनहुँ महा बिरही अति कामी***' अर्थात् ब्रह्माण्डमें जितने विरही और कामी हैं मानो उन सबोंसे ये बढ़-चढ़कर अधिक विरही और कामी हैं।

टिप्पणी—२ '***पूरनकामु राम सुखरासी।*** ………' इति। (क) मनुष्योंके-से चरित करते हैं। मनुष्य जन्मते-मरते हैं, पर ये जन्म-मरणरहित हैं, इनका आदि-अन्त नहीं; यथा—'***आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥***' (१। ११८। ४) (ख) 'पूर्णकाम हैं, इनकी सब कामनाएँ पूर्ण हैं'—कोई कामना नहीं है तब वियोग और स्त्रीके लिये विलाप कैसे सिद्ध हो सकता है? आनन्दराशि हैं, उनको दुःखका लेश नहीं, तब विरहसे दुःखी कैसे कहे जा सकते हैं? [इन सब विशेषणोंके भाव बालकाण्ड सती और शिव-चरित दोहा ४७ से ८१ तकमें आ चुके हैं। प्रारम्भसे जैसे कहा हैं कि '***बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी।***' (३०। १) वैसे ही यहाँ '***मनहुँ महा बिरही अति कामी***' कहकर जनाते हैं कि यह सब केवल नरनाट्य है, यही आगे कवि स्वयं कहते भी हैं]

'पुनि प्रभु गीधक्रिया जिमि कीन्ही'—प्रकरण

आगे परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥ १८॥
दो०—कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबिधाम मुख बिगत भई सब पीर॥ ३०॥

अर्थ—गृध्रराजको आगे पड़ा हुआ देखा। वह श्रीरामजीका स्मरण करता था जिनके चरणोंमें (वा,

रामजीके चरणोंका स्मरण करता था कि जिनमें) चिन्ह हैं॥ १८॥ कृपासिन्धु रघुवीरजीने अपना कर-कमल उसके सिरपर फेरा। शोभाधाम श्रीरामजीका छबिपूर्ण मुख देखकर उसकी सब पीड़ा दूर हो गयी॥ ३०॥

नोट—१ रा० प० में 'चिन्ह रेखा' पाठ है, पर काशिराजकी प्रतिमें 'जिन्ह' हैं और यही अन्य प्राचीन पोथियोंका पाठ है। पं० रामकुमारजीके दो खर्रोंमें दो तरहके अर्थ इसके मिले। (१) जिन रामजीकी चरण-रेखाओंका गीधराज स्मरण कर रहा था उनने गीधराजको आगे पड़ा हुआ देखा। (२) जिन रामजीकी चरण-रेखाओंका स्मरण कर रहा था उन रामजीने कर-कमल सिरपर फेरा। अर्थात् इस चरणको दीपदेहलीन्यायसे *'आगे परा गीधपति देखा'* और अगले दोहे दोनोंमें लगाकर अर्थ किया है। श्रीमान् गौड़जीकी राय है कि—'अन्तिम चतुष्पदीका तीसरा चरण अन्वय करनेमें दीपदेहलीन्यायसे दो बार यों पढ़ा जाना चाहिये—*'पूरनकामु राम सुखरासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी॥ आगे परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥'* इस चौपाईका अन्वय यों होगा—'पूरनकाम, सुखरासी, अज, अबिनासी राम (ने) मनुज-चरित कर (के) आगे गीधपति परा देखा। गीधपति देखा (कि) आगे (सोइ) रामचरन परा, जिन्ह (की) रेखा सुमिरत (है)।' भाव यह कि 'भगवान्ने मनुजचरित किया कि विरहीकी तरह पूछत फिरे। यह लीला करके कुछ बढ़े तो आगे जटायुको पड़ा देखा। पड़े-पड़े जटायुने भी देखा कि जिनकी रेखाओंका स्मरण कर रहा हूँ वही चरणारविन्द मेरे सामने आ पड़ा है। गीधराज कराह रहा था। मरणासन्न था, उठकर चरण छूनेकी ताब न थी। चरणोंको केवल देख भर सका। इतनेमें भगवान्ने उसे अपने कर-कमलोंसे उठाया।' दीनजीका अर्थ ऊपर कोष्ठकवाला है। वीरकविजी और बाबू श० सुं० दासजीने 'जिन्ह' का अर्थ 'जो' किया है पर ऐसा प्रयोग कहीं मुझे नहीं मिला। और कई टीकाकारोंने तो अर्थमें अड़चन पड़ते देखकर 'चिन्ह' पाठ कर दिया है, पर चिन्ह और रेखा एक ही बात है।

नोट—२ *'सुमिरत राम चरन.........'* इति। (क) *'सुमिरत'* क्योंकि घायल होनेसे पीड़ाके कारण आँखें बंद हैं, इससे जो चरणचिह्न देखे थे उनका मनमें स्मरण कर रहे हैं। (प्र०) जटायु एक अत्यन्त ऊँचे वृक्षपर रहते थे। गृध्रकी दृष्टि 'अपार' होती ही है। इससे उन्हें श्रीरामजीके चरणचिह्नोंका दर्शन बराबर उस वनमें हुआ करता था। अतः वे उन चिह्नोंसहित भगवान्के चरणोंका ध्यान किया करते थे। मानसकारने प्रायः पाँच ही चिह्नोंका उल्लेख किया है, यथा—*'रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे।'* (१। १९९। ३) *'ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।'* (७। १३ छंद)। रेखासे 'ऊर्ध्व रेखा' को भी ले सकते हैं। यह चिह्न मध्य एँड़ीसे लेकर अंगुष्ठमूलतक गया है। भवसागर तरनेके लिये इसका ध्यान सेतुका काम देता है। (प० प० प्र०) इस समय गृध्रराजके प्राण कण्ठगत हो रहे हैं, प्राण निकलने ही चाहते हैं, इसीसे चरणचिह्नोंका ध्यान और स्मरण कर रहे हैं। बोलनेकी शक्ति नहीं है। साथ ही प्रभुके दर्शनकी लालसा हृदयमें है जैसा आगे उनने स्वयं कहा है; यथा—*'दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना। चलन चहत अब कृपानिधाना॥'* विशेष ३१ (४) में देखिये।

नोट—३ *'चरन जिन्ह रेखा'* से यह भी जनाया कि सगुण ब्रह्म रामका स्मरण करते हैं, निराकारका स्मरण नहीं करते, निराकारके चरण कहाँ? ☞यह बात स्मरण रखने योग्य है कि श्रीसीताराम युगल सरकारके प्रत्येक चरणकमलमें २४-२४ चिह्न हैं। इतने चिह्न भगवान्के किसी और अवतार वा स्वरूपमें नहीं हैं।

वे ४८ श्रीचरणचिह्न ये हैं—*'ध्यावहीं मुनीन्द्र सियपदकंज चिह्नराज संतन सहायक सुमंगल संदोहहीं।'* ऊर्ध्वरेखा १ स्वस्तिक २ अरु अष्टकोण ३ लक्ष्मी ४ हल ५ मूसल ६ शेष ७ सर ८ *जन-जिय जोहहीं॥* अंबर ९ कमल १० रथ ११ बज्र १२ यव १३ कल्पतरु १४ अंकुश १५ ध्वजा १६ मुकुट १७ *मुनि मन मोहहीं।* चक्रजू १८ सिंहासन १९ अरु यमदंड २० चामर २१ यों छत्र २२ नर २३ जयमाल २४ *बामपद सोहहीं॥* सरयू २५ दक्षिणपद गोपद २६ महि २७ कलश २८ पताका २९ जंबूफल ३० अर्धचन्द्र ३१ *राजहीं।* शङ्ख ३२ षट्कोण ३३ तीनकोण ३४ गदा ३५ जीव ३६ बिन्दु ३७ शक्ति ३८ सुधाकुण्ड ३९ त्रिबली ४० *सुध्यान काजहीं॥* मीन ४१ पूर्णचन्द्र ४२ वीणा ४३ वंशी ४४ और धनुष ४५

तूण ४६ हंस ४७ चन्द्रिका ४८ *विचित्र चौबीस बिराजहीं। एते चिह्न जनककिशोरी पद पंकजमें* 'तपसी' *मंगलमूल सब सुख साजहीं॥*' (१—४) इनका वर्णन महारामायणमें विस्तारसे है। जो चिह्न रघुनाथजीके दक्षिणपदमें हैं वही श्रीसीताजीके वामपदमें हैं और जो श्रीरामजीके बायें चरणकमलमें हैं वे ही श्रीजानकीजीके दक्षिणपदकंजमें हैं। भगवद्भक्तोंको इनका वा इनमेंसे अपनी कामनाके अनुकूल दो-चार-छः का नित्य स्मरण बहुत लाभदायक होता है। बालकाण्डमें महारामायणके कुछ उद्धरण दिये गये हैं। विशेष व्याख्या श्री १०८ सीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकलाजीकृत नाभाजीके भक्तमालकी टीका एवं लाला भगवानदीनजीके 'श्रीरामचरणचिह्न' में है।

नोट—४ गीतावलीमें लिखा है कि प्रभु कुछ आगे बढ़ गये थे। उसके नाम रटनेका शब्द सुनकर लौट पड़े और उसको देखकर प्रियाका विरह भूल गये। यथा—'*रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई। तुलसी रामहिं प्रिया बिसरि गई सुमिरि सनेह सगाई॥*' (३। ११) (हनु० ४। १२) में भी उसका राम-नाम जपना कहा है। यथा—'**राम राम रामेति मन्त्रमनिशं निगदन्मुमुक्षुः।**' अर्थात् मोक्षकी इच्छासे वह राम राम राम इस मन्त्रको जप रहा था।

टिप्पणी—१ (क) '*करसरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर*' यह करकमलका स्पर्श तो श्रीरामजीकी ओरसे हुआ, यथा—'*परसा सीस सरोरुह पानी।*' (४। २३। १०) '*प्रभु कर पंकज कपि के सीसा।*' (५। ३३)'*कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ।*' (७। ८३। ४) और '*कबहुँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे।*' और उत्तरार्द्धमें '*निरखि राम* ……' अर्थात् उनका दर्शन करना यह भक्तकी ओरसे कहा। दोनोंके अन्तमें '*बिगत भई सब पीर*'। यह पद दिया। तात्पर्य कि चाहे श्रीरामजी अपने करसरोजका स्पर्श करें और चाहे उनका दर्शन हो, भक्तकी तो दोनों तरहसे समस्त पीड़ा जाती रहती है। यथा—'*कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा॥*' (४। ८। ६) '*सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति ताप पाप माया। निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया॥*' (वि० १३८) '*बालि सीस परसेउ निज पानी। अचल करौं तन*……॥' '*मम लोचन गोचर सोइ आवा।*……*बालि कीन्ह तनु त्याग। सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥*' (४। १०) [(ख) '*बिगत भई सब पीर*', यह सब पीर रावणद्वारा पहुँचे हुए घावोंकी है जो दूर हुई। परंतु जानकीजीका दुःख हृदयमें करक ही रहा है, वह दुःख नहीं गया, इसीसे आगे करुणारसपूरित वचन कहे हैं '*लै दच्छिन दिसि गएउ गुसाईं। बिलपत अति कुररी की नाईं॥*' (मयूख)] (ग) '*सब पीर*' अर्थात् काल, कर्म, गुण, स्वभाव और मायाकृत जितनी पीड़ाएँ हैं; यथा—'*काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत*' (विनय०), '*फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥*' (७। ४४) शरीरकी ये सब पीड़ाएँ मिट गयीं। (घ) यहाँ करका सरोजसे रूपक दिया या यों कहिये कि करके साथ 'सरोज' पद दिया और कई स्थलोंमें बिना इस विशेषणके केवल 'कर' या 'पानी' कहा। यहाँ 'सरोज' विशेषण देकर जनाया कि भक्त जानकर कृपा की है। जहाँ व्यवहार या युद्ध आदिका प्रसंग होता है, वहाँ कोई विशेषण नहीं देते। यथा—'*कर परसा सुग्रीव सरीरा*' और '*बालि सीस परसेउ निज पानी*', इसने कठोर वचन कहे थे और शरणागतको मारा था। (ङ) कर स्पर्श करते ही जटायुने नेत्र खोल दिये, दर्शन किया और स्वयं समाचार कहे।

नोट—५ वाल्मी० तथा अध्यात्म आदि रामायणोंमें श्रीरामजीके मनमें गृध्रराजको देखकर बहुत शंका हुई है और फिर जटायुसे उन्होंने प्रश्न भी किये हैं, पर यहाँ वैसी कोई बात नहीं है। यहाँ तो वे आते ही और गीधराजको देखते ही उसके सिरपर अपना कर-कमल फेरते हैं। अ० रा० में भी करका स्पर्श किया है, पर गीधराजके कहनेपर कि आपकी भार्याकी रक्षा करनेमें रावणद्वारा घायल हुआ हूँ, आप मेरी ओर देखिये, यथा—'**तच्छ्रुत्वा राघवो दीनं कण्ठप्राणं ददर्श ह। हस्ताभ्यां संस्पृशन् रामो दुःखाश्रुवृतलोचनः।**' (३। ८। ३०) यहाँ '*निरखि राम छबि धाम*……' वाली बात नहीं है। अ० रा० के

राम सीताजीकी सुधि पानेके लिये उतावले हो रहे हैं और मानसके राम अपना सब शोक भक्तके कष्टको देखकर भूल जाते हैं। उसके दु:ख दूर करनेकी चिन्ता उन्हें होती है और वे भक्तका कष्ट दूर करनेको अपना कर-कमल बढ़ाते हैं। भक्तवत्सल श्रीरामजीकी जय! जय!! जय!!!

प० प० प्र०—(क) श्रीरामजीके करसरोज जो ***'ससिहि भूष अहि लोभ अमी कें'*** (१। ३२५। ९) द्वारा अमृत प्राप्त किया था उसीसे आज गृध्रराजकी पीड़ा दूर की। उन्होंने गृध्रराजसे कुछ पूछ-ताछ न की। यह सब भगवान्‌की अतुल ***'भगतबछलता हिय हुलसानी'*** का ही प्रदर्शक है। सीता-विरह-विलाप-शोक सब भाग गया। माधुर्यलीला दब गयी, ऐश्वर्य-भाव प्रबल हो उठा। (ख) ***'आगें परा गीधपति देखा'*** इस प्रसंगमें जटायु चन्द्रमा हैं और भगवान्‌के नेत्र चकोर हैं, वे अनिमिष नेत्रोंसे, कृपामय दृष्टिसे देख रहे हैं। अवाक् हो गये हैं। (ग) ***'करसरोज''''''''पीर'***—इससे यह उपदेश मिलता है कि ऐसी दशामें मुमूर्षुसे कुछ पूछना न चाहिये, शान्त रहकर उसके कष्ट-निवारणका प्रयत्न करना चाहिये। (घ) ***'कृपासिंधु'*** से जनाया कि उसपर अगाध कृपा की। ***'रघुबीर'*** शब्दसे यहाँ पाँचों वीरताओंकी प्रतीति करायी। ***'कृपासिंधु'*** से दयावीरत्व, ***'बिगत भई सब पीर'*** से पराक्रम, ***'सुमिरत राम''''''''''*** इसके जाननेसे विद्या, स्वरूप देनेसे दान और क्रिया कर्म करनेसे धर्मवीरता प्रकट हुई।

तब कह गीध बचन धरि धीरा। सुनहु राम भंजन भव भीरा॥ १॥

नाथ दसानन यह गति कीन्ही। तेहि खल जनकसुता हरि लीन्ही॥ २॥

लै दच्छिन दिसि गएउ गोसाईं। बिलपति अति कुररी की नाईं॥ ३॥

शब्दार्थ—'कुररी'=टिटिहरी। (श० सा०) पानीके किनारे रहनेवाली एक छोटी चिड़िया जिसका सिर लाल, गरदन सफेद, पर चितकबरे, पीठ खैरे रंगकी, दुम मिले जुले रंगोंकी और चोंच काली होती है। इसकी बोली कड़वी होती है और सुननेमें टीं-टींकी ध्वनिके समान जान पड़ती है। (श० सा०) इसको 'कुराकुल' भी कहते है।

अर्थ—तब धीरज धरकर गृध्रराज बोले—हे भवभयभंजन रामजी! सुनिये॥ १॥ हे नाथ! दशमुखवाले रावणने मेरी यह दशा की है। उसी दुष्टने जानकीजीको हर लिया॥ २॥ हे गोसाईं! वह उन्हें लेकर दक्षिण दिशाको गया है। जानकीजी कुररी पक्षीकी तरह अत्यन्त विलाप कर रही थीं॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'तब कह गीध बचन धरि धीरा'* इति। प्रभुके मुखारविन्दकी छबि ही ऐसी है कि देखकर सुध-बुध जाती रहती है, यहाँ भी वैसा ही हुआ। *'निरखि रामछबि'* धीरज न रह गया, अत: ***'कह धरि धीरा'*** कहा। यथा—***'केहरि कटि पटपीतधर सुखमा-सीलनिधान। देखि भानुकुल-भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥'*** (१। २२३) ***'धरि धीरजु एक आलि सयानी।', 'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी॥ पुनि धीरज धरि कुअँरि हँकारी॥'*** (१। ३३७। ५-६), ***'राम लखन उर कर बर चीठी। रहि गए कहत न खाटी मीठी॥ पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची।'***(१। २९०। ५-६), ***'पुलकित तनु मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥ पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही।'*** (४। २। ६-७) (ख) ***'सुनहु राम भंजन भवभीरा।'*** इति। मुखारविन्दके दर्शनसे भवका नाश होता है, यथा—***'देखि बदन पंकज भवमोचन।'*** (१०। ९) इसीसे दर्शन होनेपर प्रथम ही ***'भंजन भवभीरा'*** विशेषण दिया।

नोट—१ (क) ***'सुनहु राम'*** इति। जटायुकी दशा देखकर श्रीरामजी अधीर हो गये थे। वे सोचते हैं कि ये मेरे पिताके मित्र हैं, आज मेरे ही कारण ये मारे जाकर जमीनपर पड़े हैं, यथा—'**द्विगुणीकृततापार्तो रामो धीरतरोऽपि सन्॥ २२॥ ''''''''अयं पितुर्वयस्यो मे गृध्रराजो महाबल:। शेते विनिहतो भूमौ मम भाग्यविपर्ययात्॥**' (वाल्मी० ३। ६७। २७), अत: जटायु कहते हैं—***'सुनहु राम'*** । (ख) श्रीरामजीने इतनी देरतक कुछ न पूछा, इसका कारण है कि ***'करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई॥'*** वे इनकी दशा देखते ही इतने व्यथित हो गये कि तटस्थ हो गये। यह क्या हो गया! कुछ पूछना असम्भव हो

गया। इस भाव-समाधिसे जगानेके लिये जटायुको *'सुनहु राम'* ऐसा कहना पड़ा। (प० प० प्र०) (ग) *'भंजन भव भीरा'*—भाव कि मेरी ही इच्छा है कि अब मैं पुनः भवमें न पड़ूँ।

टिप्पणी—२ *'नाथ दसानन यह गति कीन्हीं·········'* इति। यहाँ पहले कहा कि रावणने मेरी यह दशा की, पीछे कहा कि सीताहरण किया। इस क्रमसे कहनेका तात्पर्य यह है कि मेरे जीतेजी (सामर्थ्य रहते भर) वह सीताजीको न ले जा सका; यथा—*'राम काज खगराज आज लर्‌यो जियत न जानकि त्यागी। तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य बिहँग बड़भागी॥'* (गीता० ३। ८)

टिप्पणी—३ देखिये *'यह गति कीन्ही'* के साथ *'दसानन'* कहा और *'जनकसुता हरि लीन्ही'* के प्रसंगसे उसे *'खल'* कहा। तात्पर्य कि मुझे अपनी इस गतिका इतना दुःख नहीं है जितना जानकीजीके हरणका है। भक्तलोग अपनेको दुःख देनेवालेको गाली या अपशब्द नहीं कहते, दूसरेको दुःख देनेपर भले ही उसको बुरा कहें। परस्त्रीहरण करनेसे उसे जटायुने *'खल'* कहा। (पं० रा० व० श०) पुनः दशाननसे जनाया कि वह बड़ा वीर है, उसके दस सिर और बीस भुजाएँ हैं, इसीसे मुझे उसने परास्त कर दिया।

प० प० प्र०—(क) वाल्मीकीय आदिके जटायुने, रावणसे उसने कैसा युद्ध किया यह सब अपने मुखसे कहा है। मानसमें आदर्शभक्त सेवक जटायुका चरित्र है। सेवक जानता है कि उससे जो कुछ भी होता है, वह सब प्रभु ही करते-कराते हैं। इसी तरह हनुमान्‌जीने भी अपनी करनी अपने मुखसे नहीं कही, जाम्बवान्‌जीने कही और जब प्रभुके पूछनेपर कुछ कहा भी तब *'बिगत अभिमाना'* कहा। (ख) *'गति कीन्ही'* अर्थात् मेरा सब परिश्रम निष्फल हो गया। क्योंकि *'बर प्रसाद सो मरइ न मारा।'* (ग) भवार्थ रामायण पृ० ७६ में जो कहा है वह सब भाव *'खल'* है।

टिप्पणी—४ *'लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं·······'* इति। (क) *'गोसाईं'* अर्थात् आप पृथ्वीभरके स्वामी हैं, आपसे बचकर वह कहाँ जा सकता है? जहाँ ले गया है वह आप जानते ही हैं। [*'गोसाईं'*—यह तीसरी बारका सम्बोधन है। अब भी श्रीरामजी तटस्थ हैं। (प० प० प्र०) (ख) *'दच्छिन दिसि·····'* ऐसा ही अ० रा० में कहा है, यथा—'**आदाय मैथिलीं सीतां दक्षिणाभिमुखो ययौ।**' (३। ८। ३३)] सीताजीने विलाप करते हुए कहा था *'बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा'*, सो यहाँ गृध्रराज सुना रहे हैं कि *'बिलपति·······'*। (ग) *'बिलपति अति कुररी की नाईं··'* इति। जटायु स्वयं पक्षी है, अतः उसने पक्षीकी उपमा दी। पुनः, कुररी आकाशमें शब्द करती जाती है, वैसे ही जानकीजीको रावण आकाशमार्गसे ले गया, आकाशमें ही उनका विलाप हो रहा था, मानों कुररी विलाप कर रही हो।

दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना। चलन चहत अब कृपानिधाना॥ ४॥
राम कहा तनु राखहु ताता। मुख मुसुकाइ कही तेहि बाता॥ ५॥

अर्थ—प्रभो! मैंने आपके दर्शनोंके लिये ही प्राण रोक रखे थे। हे कृपानिधान! अब ये तो चलना चाहते हैं॥ ४॥ श्रीरामचन्द्रजी बोले—हे तात! शरीर रखिये। तब उसने मुखसे मुसकराकर यह बात कही॥ ५॥

टिप्पणी—१ [(क) *'प्रभु'* का भाव कि आप समर्थ हैं, रावणका वध करके जानकीजीको शीघ्र ले आयेंगे, तथा आप मेरे जीकी भी जानते है; यथा—*'प्रभु जानत सब बिनहिं जनाए।'* (१। १६२)] (ख) *'राखेउँ प्राना'*—भीष्मपितामहने उत्तरायण, दक्षिणायन सूर्यके भेदसे प्राण रोक रखे थे। वैसे ही इन्होंने प्रभुके दर्शनार्थ प्राण रोके। दर्शन हो गया, अतएव अब प्राण छूटना चाहता है। *'कृपानिधाना'* का भाव कि जिसलिये मैं प्राण रोके रहा वह आपने कृपा करके पूरा कर दिया; मुझे दर्शन दे दिये। (ग) गृध्रराजकी दो लालसाएँ थीं, इसीसे वे पछताते थे कि शरीर छूटना चाहता है, मैं प्रभुका दर्शन न कर पाया और न सीताकी सुध दे सका। इन अभिलाषाओंकी पूर्ति प्रभुने कर दी; यथा—*'भरत न मैं रघुबीर बिलोके तापस बेष बनाये। चाहत चलन प्रान पाँवर बिनु सिय सुधि प्रभुहि सुनाये॥ बार बार कर मीजि सीस धुनि गीधराज पछिताई। तुलसी प्रभु कृपाल तेहि अवसर आइ गये दोउ भाई······'* (गी० ३। १२), अतः *'कृपानिधाना'* कहा।

नोट—१ गीतावलीके पूरे पदका भाव श्रीहनुमन्नाटकमें है—**'न मैत्री निर्व्यूढा दशरथनृपे राज्यविषया न वैदेही त्राता हठहरणतो राक्षसपतेः। न रामस्यास्येन्दुर्नयनविषयोऽभूत्सुकृतिनो जटायोर्जन्मेदं वितथमभवद्भाग्यरहितम्॥'** (४। १३) अर्थात् राज्यके विषयरूप राजा दशरथकी मित्रताका ही मुझसे निर्वाह न तो किया गया और न राक्षसपति रावणसे जानकीजी की रक्षा ही की गयी तथा न सुकृती श्रीरामचन्द्रके मुखचन्द्रका दर्शन ही हुआ, इसलिये मुझ भाग्यहीनका जन्म ही व्यर्थ हुआ। (गी० २११) के प्रथम चरण ये हैं—*'मेरे एकौ हाथ न लागी। गयो बपु बीति बादि कानन ज्यों कलपलता दव लागी॥ दसरथ सों न प्रेम प्रतिपाल्यो हुतो जो सकल जग साखी। बरबस हरत निसाचरपति सों हठि न जानकी राखी·····'॥* (१-२)

टिप्पणी—२ *'राम कहा तनु राखहु ताता·····'* इति। *'तात'* सम्बोधन करके गीतावलीके पदका अभिप्राय यहाँ सूचित किया। अर्थात् हमारे पिता नहीं हैं, आपने हमें पिताका सुख दिया, आपके पुत्र नहीं है तो हम आपको पुत्रका सुख देंगे। यथा—*'मेरे जान तात कछू दिन जीजै। देखिए आप सुवन सेवा सुख मोहि पितु को सुख दीजै॥'* (३। १५) [वालिसे भी प्रभुने यही कहा है; यथा—*'अचल करौं तन राखहु प्राना'।* वही भाव यहाँ भी है पर *'अचल करौं'*, मैं आपके शरीरको अचल किये देता हूँ यह कैसे कहते; क्योंकि वे जटायुको पिताके समान मानते हैं, यह मर्यादा पालनकी दक्षता है। प्रभुके वचनोंमें जटायु, गीध, पक्षि आदि शब्द एक बार भी नहीं आया, *'तात'* शब्द चार बार आया है। वालिको एक बार भी *'तात'* सम्बोधन नहीं किया है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ (क) *'मुख मुसुकाइ'* यहाँसे *'राखउँ नाथ देह केहि खाँगे'* तक यह जनाते हैं कि मेरे मरणके समान चारों पदार्थ नहीं हैं। अर्थ, धर्म और कामसे बढ़कर मोक्ष है सो तुम्हारे नामसे मिलता है, जिनके नामसे मुक्ति मिलती है वही आप मेरे सामने प्रत्यक्ष खड़े हैं। यथा—*'बोलेउ बिहग बिहसि रघुबर बलि कहौं सुभाय पतीजै। मेरे मरिबे सम न चारि फल, होहिं तौ क्यों न कहीजै॥'* (गी० ३। १५) [(ख) *'मुसुकाने'* का भाव कि आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं? (प्र०) अथवा, *'मुसुकाये'* प्रभुका भक्तवात्सल्य, कृतज्ञता और नम्रता देखकर अथवा यह जानकर कि प्रभु अपना ऐश्वर्य छिपा रहे हैं। जिस पितृभावसे श्रीरामजी *'तात' 'तात'* सम्बोधन करते हैं, उस भावमें परीक्षा लेनेकी बुद्धि हो ही नहीं सकती। (प० प० प्र०)]

जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा॥ ६॥
सो मम लोचन गोचर आगे। राखौं देह नाथ केहि खाँगे॥ ७॥

शब्दार्थ—'**खाँगे**'=कमी, घटी, कसर, टोटा।

अर्थ—जिसका नाम मरते समय मुखपर आनेसे अधमकी भी मुक्ति हो जाती है—ऐसा वेद कहते हैं, वही आप मेरे नेत्रोंका विषय होकर मेरे आगे प्राप्त हैं। (तो) हे नाथ! अब क्या बाकी रहा? किस कमीके लिये शरीर बनाये रखूँ?॥ ६-७॥

टिप्पणी—१ (क) *'मुख आवा'* अर्थात् मरण समय मुखसे नाम निकलना दुर्लभ है। यथा—*'जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥'* (बालि) *'अधमौं मुकुत होइ·······'*, यथा—*'अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥'* (१। २६। ७), [पुनः यथा—**'निभृत मरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।'** (श्रुतिगीत, भा० १०। ८७। २३), **'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥'** (गीता ८। ५), *'राम-राम कहि तन तजहिं पावहिं पद निर्बान।'* (२०, प० प० प्र०।)] (ख) *'गोचर आगे'* इति। गोचरसे तो आगेका अर्थ हो गया, फिर आगे क्या? भाव कि गोचर तो दृष्टिकी पहुँचमें कहीं भी होनेसे कह सकते हैं पर आप अत्यन्त निकट प्राप्त हैं। (खर्रा) (ग) *'राखौं देह नाथ केहि खाँगे'* अर्थात् इस देहसे

ईश्वरकी प्राप्ति हो गयी, अब और किस पदार्थकी प्राप्ति बाकी रही जिसके लिये शरीर बनाये रखूँ। भाव यह कि अब कोई भी वस्तु हमको अपेक्षित नहीं। [इससे जनाया कि जटायुके हृदयमें देहका लोभ, देहासक्ति, किञ्चित् भी नहीं थी और न अन्य कोई कामना ही थी, यह *'तुम्ह पूरनकामा'* इस मुखवचनसे भी सिद्ध है। बालि-प्रसङ्गके मिलानसे स्पष्ट हो जायगा कि बालि पूर्णकाम नहीं था। मरते समय प्रभुके प्रत्यक्ष नयन गोचर होनेपर भी जीनेकी इच्छावालोंके लिये बालिके वचन ये हैं—*'अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरही।'* (प० प० प्र०)]

नोट—१ ☞ (गी० ३। १३। १—४) से मिलान करें—*'राघो गीध गोद करि लीन्हो। नयन सरोज सनेह सलिल सुचि मनहुँ अरघजल दीन्हो॥ सुनहु लषन खगपतिहि मिले बन मैं पितु मरन न जान्यौ। सहि न सक्यो सो कठिन बिधाता बड़ो पछु आजुहि भान्यो॥ बहु बिधि राम कह्यो तन राखन परम धीर नहिं डोल्यौ। रोकि प्रेम अवलोकि बदन बिधु बचन मनोहर बोल्यो॥ तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं। जाको नाम मरत मुनि दुर्लभ तुम्हहिं कहाँ पुनि पैहौं॥* पुनः (गी० ३। ११—१४)—*'नीके कै जानत राम हियो हौं। प्रनतपाल सेवक कृपाल चित पितु पटतरहि दियो हौं॥ त्रिजग जोनिगत गीध जनम भरि खाइ कुजंतु जियो हौं। महाराज सुकृती समाज सब ऊपर आजु कियो हौं॥ श्रवन बचन मुख नाम रूप चख राम उछंग लियो हौं। तुलसी मो समान बड़भागी को कहि सकै बियो हौं॥'* भक्तप्रवर निषादराजने जिस मृत्युकी सराहना और कामना प्रकट की थी, वह उन्हींके शब्दोंमें सुनिये; यथा—*'समर मरनु पुनि सुरसरितीरा। रामकाज छनभंगु सरीरा॥ भरत भाइ नृप मैं जन नीचू। बड़े भाग्य अस पाइअ मीचू॥'* (२। १९०)

गृध्रराजको ये सभी विधियाँ प्राप्त हुईं बल्कि इनसे अधिक, वह इस तरह कि समरमरण (त्रैलोक्यविजयी राजा रावणसे लड़कर जो पूर्वका सरकारी सखा है) और रामकाज तो प्रत्यक्ष है, रहा *'सुरसरि तीर'* सो भी, वरन् उससे अधिक उसे प्राप्त है; क्योंकि जिनके चरणकमलका मकरंद सुरसरिरूपसे पृथ्वीपर और शङ्करजीके मस्तकपर विराजमान है—(*'मकरंद जिन्हको संभुसिर सुचिता अवधि सुर बरनई।'*), वे चरणकमल ही स्वयं उसके शरीरसे सटे हुए उपस्थित हैं जिनमें अनेकों सुरसरि हैं, एकको बात ही क्या? कार्यकी कौन कहे कारण ही आ प्राप्त हुआ अपने कार्यके सहित। निषादराजको सराही हुई मृत्युके तो सब लक्षण यहाँ है ही, पर साथ ही उनसे अधिक बातें यहाँ गृध्रराजको प्राप्त हैं जैसा वे स्वयं कह रहे हैं *'श्रवन बचन मुख नाम रूप चख राम उछंग लियो हौं।'* अर्थात् गृध्रराज कहते हैं कि आप मुझसे शरीर रखनेकी कहते हैं, भला आप ही कहिये कि मुझे जो अलभ्य और महर्षियोंको भी असम्भव लाभ आज प्राप्त है, क्या दीर्घजीवी होनेसे इस शरीरको रखनेसे वह कभी भी फिर प्राप्त हो सकेगा? कदापि नहीं। आज आप मुझे गोदमें लिये बैठे हैं, मेरे मुखसे आपका नाम उच्चारण हो रहा है, आपके मुखारविन्दका दर्शन मुझे हो रहा है, आपके मधुर मनहरण वचन मेरे श्रवणगोचर हो रहे हैं, आप मुझे पिता कह रहे हैं—ऐसा सुअवसर फिर कहाँ? अतएव वे कहते हैं कि *'राखौं देह नाथ केहि खाँगे'* क्या कोई बात बाकी है? है तो बतलाइये! प्रभु इसका क्या उत्तर देते? वे चुप हो गये । और ये कहते हैं कि *'प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं।'*

प्रेमी पाठकवृन्दने अधिकता देख ली। और भी देखिये कि दशरथजीको भी अग्निसंस्कार रामजीद्वारा न प्राप्त हुआ और इनका मृतकसंस्कार श्रीरामजीने स्वयं किया। ऐसी मृत्यु तो किसीकी भी नहीं हुई, ऐसा अतिशय भाग्यशाली दूसरा कौन होगा? फिर इनका यश क्यों न समस्त लोकोंमें निरन्तर बना रहेगा? श्रीमहात्मा जटायुजीकी जय! जय!! जय!!!

जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई॥ ८ ॥
पर हित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥ ९ ॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरनकामा॥ १० ॥

अर्थ—नेत्रोंमें जल भरकर रघुनाथजी कह रहे हैं। हे तात! आपने अपने कर्मसे सद्गति पायी है॥ ८॥ जिनके मनमें परायेका हित बसता है अर्थात् जो दूसरेका भला करनेमें लगे रहते हैं, उनको संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है॥ ९॥ हे तात! तन त्यागकर आप मेरे धामको जाइये। मैं आपको क्या दूँ, आप तो स्वयं ही पूर्णकाम हैं॥ १०॥

टिप्पणी—१ *'जल भरि नयन कहहिं रघुराई।'''''''* (क) जटायुके दुःखसे आँसू भर आये। इसी तरह हनुमान्‌जीसे सीताजीका दुःख सुननेसे नेत्र सजल हो गये; यथा—*'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना॥'* (५। ३२) (ख) खर्रा—*'रघुराई'* का भाव कि सब दानियोंमें शिरोमणि हैं, रघुकुलके राजा हैं, इतने बड़े होकर भी कैसा उपकार मानते हैं कि नेत्रोंमें जल भर लाये।

प० प० प्र०—१ एक यही प्रसङ्ग है जिसमें किसीको प्राण त्याग करते देख श्रीरघुनाथजीके नेत्रोंसे जल भर आया। श्रीशरभङ्ग और शबरीजीके मरते समय भी नेत्रोंमें जल नहीं आया और न पिताका मरण सुननेपर। कारण कि निष्काम प्रेमी, भक्त, हितकर्ता, पिताके सखा, पितृवत्स्नेहकर्ता और श्रीसीताजीको भयमुक्त करनेमें अपने प्राणोंकी आहुति देनेवाले ऐसे जटायुका साथ छूट रहा है। अतः दुःख-शोक हो गया। कैसी माधुर्यलीला है!! जटायुमिलनमें प्रथम ऐश्वर्यलीला है, बीचमें माधुर्य और फिर ऐश्वर्यलीला है, और अन्तमें माधुर्य है। ऐश्वर्य और माधुर्यका मधुर कोमल सम्मिश्रण है। बालिके प्रसङ्गमें केवल ऐश्वर्य है।

प० प० प्र०—२ 'रघुराईके नेत्रमें जल भरने' का भाव कि रघुकुलभूषण होकर भी मैं पितृतुल्य पिताके वृद्ध सखाकी रक्षा न कर सका, उलटे उन्होंने हमारे लिये प्राणोंकी आहुति दे दी।

टिप्पणी—२ *'तात करम निज तें गति पाई'* यह गृध्रराजके इन वचनोंका उत्तर है कि *'जाकर नाम मरत मुख आवा ''''''''।'* अर्थात् जो तुमने कहा कि जिनके नामसे मुक्ति होती है वही तुम मेरे सामने खड़े हो, यह बात यहाँ नहीं है, तुम्हारी मुक्ति न मेरे नामसे हुई, न मेरे रूपसे, तुमने तो अपने कर्मसे मुक्ति पायी है। किस कर्मसे? यह आगे कहते हैं—*'परहित''''''''।'* (पुनः भाव कि मैं तो आपका बालक हूँ, पिताजी! आपने तो अपने कर्मसे यह गति पायी है। यहाँ ऐश्वर्यको छिपाकर माधुर्यभावको प्रकट कर रहे हैं। प० प० प्र०)

टिप्पणी—३ *'परहित बस जिन्हके मन माहीं।''''''''''* अर्थात् परोपकारसे चारों फल प्राप्त होते हैं। *'गति पाई'* यह मोक्ष है और *'जग दुर्लभ कछु नाहीं'* से अर्थ, धर्म और कामकी प्राप्ति इस संसारमें जनायी।

प० प० प्र०—जबतक ऐहिक वा पारलौकिक स्वहितकी कामना हृदयमें रहेगी तबतक कोई सच्चा परहित कर ही नहीं सकता। *'हेतु रहित परहित रत सीला।'* (४६। ७) *'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* (७। ४७। ५) यह सन्त-स्वभाव है। इस दृष्टिसे *'जग दुर्लभ कछु नाहीं'* का भाव यही होगा कि जो भी शुभ गति वे चाहें वह उनको सुलभ है, इस जगमें जन्म लेनेपर जो गति चाहें उसे सहज ही प्राप्त कर लेते हैं।

गौड़जी—*'परहित''''''माहीं। तिन्ह'''''''''' नाहीं॥'* इति। इसका एक भाव यह भी है कि परहितनिरत मुक्त पुरुष भी जगत्‌में अपनी इच्छासे जब चाहें आ सकते हैं। फिर कभी जगत्‌का उपकार करनेकी इच्छासे तुम अवतार लेना चाहो तो तुम्हारे लिये कोई कठिनाई नहीं है। इस जरा-जर्जर शरीरको जो इस समय पीड़ाका कारण है, छोड़ देना भी अच्छा है।

टिप्पणी—४ *'तनु तजि तात जाहु मम धामा''''''* इति। गृध्रराजके *'नाथ दसानन यह गति कीन्हीं'* इस वचनपर प्रभुने कहा कि *'तन राखहु ताता।'* पर, जब उसने शरीर रखना न स्वीकार किया तब कहा कि 'शरीर छोड़कर हमारे धामको जाओ।'

प० प० प्र०—जब परहितनिरत भक्तोंकी बात कहने लगे तब ऐश्वर्यभाव बहने लगा और *'हरि धामा'* आदि न कहकर वे *'मम धाम'* कह जाते हैं। *'मम धाम'* अर्थात् साकेत। यहाँ *'मम धाम'* से सारूप्य लेना विशेष संगत होगा। *'देउँ'* दीपदेहली है। मैं अपना धाम देता हूँ कारण कि तुम पूर्णकाम हो, तुम

कैवल्य मोक्ष नहीं चाहते। इससे जनाया कि जो पूर्णकाम होते हैं, वे भगवत्सेवा, भजन, भगवत्प्रेम ही चाहते हैं, वे रामानुरागी होते हैं।

टिप्पणी—५ *'तुम्ह पूरन कामा'* इति। पूर्णकाम इससे कहा कि *'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं',* उस देह और प्राणको भी सेवा करनेभरके लिये रखा—श्रीसीताजीकी सुध दी और दर्शन किये और जो प्रभुने कहा कि हम तुम्हारी सेवा करेंगे, यह स्वीकार न किया। सेवा करानेके लिये शरीर न रखा। पुनः, यह प्रभुका स्वभाव है कि *'निज करतूति न समुझिय सपने। सेवक सकुच सोच उर अपने॥'* उसके अनुकूल ही ये वचन कहे गये हैं। देनेको गृध्रराजको सर्वस्व दे दिया और फिर भी कहते हैं कि *'देउँ काह......'* —यह उदारताका स्वरूप है।

नोट—१ देखिये गृध्रराजजी तो अपनी इस परमभाग्यशाली मृत्युको प्रभुकी कृपा ही कहते हैं। क्यों न हो? वे तो भक्तराजों और हरिवल्लभोंमें गिने गये हैं, वे ऐसा क्यों न कहते? भक्तके मुखसे तो यही शोभा देता है जैसा वे कह रहे हैं—*'त्रिजगजोनिगत गीध जनम भरि खाइ कुजंतु जियो हौं। महाराज सुकृतीसमाज सब ऊपर आजु कियो हौं॥'* पर प्रभु इनकी इस दीनताको खूब समझते हैं। वे उनको अपनेसे भी अधिक यश देते हैं, उलटे अपनेको उनका ऋणिया कहने लगते हैं, जैसा कि वानरसेनासे रावणवधके पीछे कहा है, हनुमान्‌जीसे सुन्दरकाण्डमें कहा है और यहाँ गृध्रराजजीसे कह रहे हैं—*'तात करम निज तें गति पाई',* यह गति तो अपनी करनीसे पायी। और हमारे लिये प्राण दिये, यह ऋण हमपर बना है।

दो०—सीताहरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥ ३१॥

अर्थ—हे तात! सीताहरणकी बात आप पिताजीसे जाकर न कहियेगा। जो मैं राम हूँ तो दशमुखवाला रावण कुलसहित आकर स्वयं ही कहेगा॥ ३१॥

नोट—१ (क) *'जनि कहहु'* का कारण (गी० ३। १६। १-२) में इस प्रकार दिया है—*'मेरो सुनियो तात सँदेसो। सीयहरन जनि कहेहु पिता सों ह्वै हैं अधिक अँदेसो॥ रावरे पुन्य-प्रताप-अनल महँ अलप दिननि रिपु दहिहैं। कुल समेत सुरसभा दसानन समाचार सब कहिहैं॥'* ऐसा ही अङ्गदजीने रावणसे कहा है—*'दिन दस गए बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई॥ राम बिरोध कुसल जसि होई। सो सब तोहि सुनाइहि सोई॥'* (६। २१) पुनः, ये पिताके सखा थे, इससे भय था कि ये अवश्य जाकर कहेंगे, अतएव मना किया। (ख) (इसका मुख्य भाव 'पिता' शब्दमें है। पिताको वनवास देनेका पश्चात्ताप होगा, केकयीके विषयमें उनके मनमें अधिक तिरस्कार बढ़ जायगा, वे स्वयं अपनेको दोष देने लगेंगे, वे सोचेंगे कि क्या मेरे पुत्रोंमें अपनी स्त्रीकी रक्षाकी भी शक्ति न रह गयी, इत्यादि। प० प० प्र०)

नोट—२ यह दोहा बिलकुल हनुमन्नाटकमेंके श्रीरामवाक्यसे मिलता है। यथा—'**तात त्वं निजतेजसैव गमितः स्वर्गं व्रज स्वस्ति ते, ब्रूमस्त्वेकमिमां वधूहृतिकथां तातान्तिके मा कृथाः। रामोऽहं यदि तद्दिनैः कतिपयैर्व्रीडानमत्कन्धरः, सार्धं बन्धुजनेन सेन्द्रविजयी वक्ता स्वयं रावणः॥**' (हनुमन्नाटक अंक ५ श्लो० १६) अर्थात् हे तात! तुम्हारा कल्याण हो, तुम अपने तेजसे ही स्वर्गको जाते हो तो चले जाओ। परंतु मैं आपसे एक बात कहता हूँ कि जानकीहरणकी कथा पिताजीसे न कहियेगा। यदि मैं राम हूँ तो कुछ ही दिनोंमें अपने बन्धु-वर्गों और इन्द्रजित्-मेघनादसहित लज्जासे कन्धोंको नम्र करके रावण स्वयं आकर कहेगा।

नोट—३ यहाँ 'प्रथम पर्य्यायोक्ति अलंकार' है। सीधे यह न कहा कि मैं रावणका कुलसहित नाश करूँगा, उसे इस प्रकार घुमाकर कहा।

टिप्पणी—१ *'जौं मैं राम त कुल सहित'* इति। यहाँ उसी बातकी प्रतिज्ञा प्रभु कर रहे हैं जो उनके भक्तके मुखसे निकली है—*'होइहि सकल सलभ कुल तोरा।'* 'जो मैं राम हूँ तो'—यह शपथ

वा प्रतिज्ञाकी एक रीति है। भक्तके वचनकी सिद्धिके लिये *'कुल सहित'* कहा, यथा—*'होइहि सकल सलभ कुल तोरा।'*

प० प० प्र०—इस दोहेमें फिर माधुर्य भाव अग्रसर हो गया। *'जौं मैं राम'* अर्थात् यदि मैं ऐसा न करूँ तो 'राम' नाम छोड़ दूँगा। परशुराम प्रसंगमें 'राम' नाम छोड़नेका विषय आ गया है, यथा—*'करु परितोषु मोर संग्रामा। नाहिं त छाँड़ कहाउब रामा॥'* पुनः भाव 'राम' नाम होते हुए भी मैं पिताको यदि अभिराम न दे सका तो मेरा नाम निरर्थक ही हो जायगा। राम-नामके अनेक अर्थ हैं—रामपूर्वतापनीयोपनिषद् श्लोक १—६ देखिये। जब रावण जाकर कहेगा तब उनको परमानन्द होगा और कैकेयीके विषयमें उनका मन निर्मल हो जायगा।

गीध देह तजि धरि हरिरूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा॥ १॥
स्याम गात बिसाल भुजचारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥ २॥

अर्थ—गृध्रराज जटायुने गृध्रशरीर छोड़कर हरिरूप धारण किया—बहुत-से आभूषण और उपमारहित (दिव्य) पीताम्बर पहने हुए हैं। श्याम शरीर है, विशाल चार भुजाएँ हैं—नेत्रोंमें जलभरे हुए स्तुति कर रहे हैं॥ १-२॥

नोट—१ इस चौपाईके कुछ भाव और मिलान स्तुतिके अन्तिम छन्द और दोहा ३२ में भी देखिये।

नोट—२ हरिरूपासे चतुर्भुजरूपसे यहाँ अभिप्राय है। और आगे इसीको स्पष्ट किया है। यथा—*'स्याम गात बिसाल भुजचारी।'* चार भुजा विष्णुभगवान्‌के ही हैं—वैकुण्ठनिवासी वा क्षीरसागरवासी। पं० शिवलाल पाठकजीने मयूखमें यह शंका उठाकर कि 'चतुर्भुजरूप होकर रामधामको जाना कहा, यह विरोध-सा दीखता है; क्योंकि रामधाममें द्विभुज स्वरूपसे जाना था', इसका समाधान यह करते हैं कि यहाँसे चतुर्भुजरूपसे जायँगे, जब इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ इत्यादि सब पार हो जायँगे तब चतुर्भुजसे द्विभुज होकर परमधाममें प्रवेश करेंगे। बाबा रामचरणदासजी लिखते हैं कि अभी वैकुण्ठमें चतुर्भुजरूपसे जटायु निवास करेंगे, जैसे इन्द्रलोकमें दशरथजी महाराज। और जब प्रभु अपने परविभूतिलोकको जायँगे तब ये दोनों वहाँसे प्रभुके साथ उस लोकको जायँगे। बाबा हरिहरप्रसादजीने हरिरूपसे चतुर्भुजरूपका अर्थ नहीं लेना चाहा है, इसीसे *'बिसाल भुजचारी'* के अर्थमें बहुत खींच की है। जो सर्वथा यहाँ अभिप्रेत नहीं है। इसीलिये यहाँ वे भाव नहीं दिये जाते। एक भाव उन्होंने यह दिया है कि कई कल्पकी कथा मिश्रित है, इससे चतुर्भुजपार्षदोंमें मिलनेवालोंमें वह जटायु होगा। पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी मयूखसे सहमत हैं, वे भी यही कहते थे कि वैकुण्ठतक चतुर्भुज ही रूप रहता है, उसके आगे जानेपर द्विभुजरूप होता है।

☞ यहाँपर पं० रामकुमारजीके कुछ भाव उन्हींके दोहोंमें उद्धृत किये जाते हैं जो बालकाण्डमें भी हैं। ये दोहे भगवान् रामचन्द्रजीके आविर्भावके समय चतुर्भुजरूपसे दर्शन देनेके सम्बन्धके हैं। *'हृदय चतुर्भुजरूप दिखावा'* (आ० १०। १८) में भी ये भाव पढ़ लेने चाहिये।

१ शंका—'**प्रथमहि बालकरूप धरि प्रगटे किन सुरराउ। अद्भुत रूप दिखावनो याको लख्यो न भाउ॥**'

समाधान—

'**परखत पूरब ज्ञान मनु है धौ भूली माय। निज स्वरूप ते प्रगट गए अवरहु भाव सुहाय॥**
बर दीन्हो जेहि रूप ते जो नहिं देखै मातु। मानै सुत सब जगत सम होइ न ज्ञान को घात॥
भावी बिरह न राखिहै प्राण रूप यह जान। कौसल्या हितकारि पद देत ध्वनी यह मान॥
जिमि अद्भुत मम रूप तिमि अद्भुत करिहौं गाथ। जनमकाल सब लखन मनो रूप दिखायो नाथ॥'

२ शंख कमलको शस्त्र कैसे कहा? उत्तर—*'मोह रूप दसमौलि दर नासत वेदस्वरूप। कमल प्रफुल्लित हृदय करि नासत शोक अनूप॥'* अर्थात् ये बाह्यान्तर-शत्रुओंका विनाश करनेवाले हैं।

३ 'कल्प चतुर्थ प्रसंग में रामजन्म को हेतु। मनु स्वयंभु तप देखि प्रभु आए तजि साकेतु॥
तेइ दसरथ अरु कौसिला भए अवध महँ आइ। जन्मकाल केहि हेतु प्रभु विष्णुरूप दरसाइ?'
उत्तर—'विष्णु आदि त्रयदेवता सोऊ मेरेहि रूप। निज माता के बोधहित धर्यो चतुर्भुज रूप॥
यहै बोध दृढ़ करन पुनि है करि विश्वसरूप। विष्णु आदि सब देव से लखु मम रूप अनूप॥
चारि भुजा ते सूच हरि चतुर्व्यूह मोहि जान। वासुदेव आदिक तथा विश्वादिक हूँ मान॥
मात्रा चारि जो प्रणवके चारि भुजा मम अंग। अंगी पूरण ब्रह्म तिमि लखु ममरूप अभंग॥
चारौ कर ते नाशिहौं चारौ दुख के हेतु। कालरु कर्म स्वभाव गुण जनु प्रभु सूची देतु॥
त्रेता त्रय पद धरमके यद्यपि हैं जग माहिं। चारों पद पूरन करौं चारौं कर दरसाँहिं॥
चारि भुजा ते सूच प्रभु नृप नयके पद चारि। सो सब मेरे हाथ हैं जानत बुध न गँवार॥
चारिहु बिधि मोहि भजत जन चारि भुजा तेहि हेतु। हरत दुःख दै ज्ञान पुनि धन दै मोक्षहु देतु॥
भक्ति परीक्षा करन हित प्रभु निजरूप दुराइ। द्विभुज राम साकेत मनु भए चतुर्भुज आइ॥'
(यथा) 'भूपरूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप दिखावा॥'
सूचत प्रभु धरि चारि भुज चारि बेद मोहि ग्रीव। तेहि प्रतिकूलहि मारिहौं राखौं तिनकी सींव॥
निज भक्तनको चारि फल चारि भुजा ते देहुँ। चारि रूप अति चपल मन ध्याताके हरि लेहुँ॥
सूचत प्रभु भुजचारि ते चारि खानि मैं कीन। जारज अंडज स्वेदज उद्भिज सो कहि दीन॥

प० प० प्र०—१ जटायु तो सीधे साकेत पधारेंगे और दशरथजी तो अभी इन्द्रलोकमें हैं, यथा—*'आपु इहाँ अमरावति राऊ।'* तब दोनोंका मिलन कैसे होगा? ऐसे प्रश्नका कारण अल्पश्रुतत्व ही है। स्कन्दपुराण काशीखण्ड पूर्वार्धमें शिवशर्मा विष्णु सारूप्य प्राप्त करके पार्षदोंके साथ विमानमें बैठकर जाता है। उस समय वह सब लोकोंमें होकर ही वैकुण्ठ जाता है। वैकुण्ठ और साकेत जानेका मार्ग ही सब लोकोंमेंसे ही है। पाठक वहीं विस्तारसे देख लें। त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद्में भी वैसा ही मार्ग कहा है। इसमेंसे कुछ अवतरण दे देना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। यथा—'**प्रणवगरुडमारुह्य महाविष्णोः समस्ताऽसाधारणचिह्नचिह्नितो, महाविष्णोः समस्ताऽसाधारण**.......... **दिव्यभूषणैर्विभूषितो वैकुण्ठपार्षदैः परिवेष्टितः नभोमार्गमाविश्य पार्श्वद्वयस्थित अनेकपुण्यलोकान् अतिक्रम्य तत्रत्यैः पुण्यपुरुषैः अभिपूजितः, सत्यलोकम् आविश्य ब्रह्माणमभ्यर्च्य, ब्रह्मणा च सत्यलोकवासिभिः सर्वैः अभिपूजित**..........**वैकुण्ठवासिनः सर्वे समायान्ति। तान् सर्वान् सुसम्पूज्य, तैः सर्वैः अभिपूजितः, उपरि उपरि गत्वा**......**पञ्च वैकुण्ठान् अतीत्य**..........**सुदर्शनवैकुण्ठपुरं**..........**गच्छति।**' (अध्याय ५ और ६ देखने योग्य हैं) यह अवतरण अति संक्षिप्त दिया है। इस श्रुतिके संक्षिप्त मन्त्रमय कथनका विस्तार ही इतिहासके उदाहरण सहित पुराणमें किया गया है। (अवतरणमें पदच्छेद सकारण ही लिखा है।)

प० प० प्र०—२ *'गीध देह तजि धरि हरि रूपा।*........*'* इति। (क) इस ३२ वें दोहेके अङ्गभूत केवल दो ही चौपाइयाँ हैं। ऐसा यह एक ही स्थल मानसमें है। पाँच चौपाइयोंका भी एक स्थल है, सातके बहुत हैं। चौपाइयाँ पुरइनि हैं और *'छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥'* इस स्थानमें केवल दो ही पुरइनिके पत्ते हैं और शेष कमल-ही-कमल हैं। इससे प्रतीत होता है कि कविकुलशेखरके हृदयमें गीधराजकी सुन्दर मृत्यु देखकर विशेष प्रसन्नता और विशेष आनन्द हो गया है। इसीसे तो दोहावलीमें उन्होंने *'गीधराज की मीचु'* की महत्ता २२२ से २२७ तक छः दोहोंमें गायी है। इनमेंसे केवल दोका ही यहाँ देना पर्याप्त होगा। *'मुए मरत मरिहैं सकल घरी पहर के बीचु। लही न काहूँ आजु लौं गीधराज की मीचु॥'* (२२४) *'दसरथ तें दसगुन भगति सहित तासु करि काज। सोचत बंधु समेत प्रभु कृपासिंधु रघुराज॥'* (२२७)। यहाँका *'रघुराज'* शब्द और *'जल भरि नयन कहहिं रघुराई'* मेंका *'रघुराई'* शब्द

एक ही भावसे प्रयुक्त हैं। इन दो चौपाइयोंका भाव त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद्के अवतरणमें मिलता है। (ख) *'भूषन बहु'* इत्यादिसे शंख, चक्र, गदा, पद्म, वनमाला, किरीट कुण्डलादि समस्त हरिभूषणोंसे युक्त नील-मेघश्याम वर्ण पीताम्बरधारी हरिके चतुर्भुजरूपकी प्राप्ति जनायी।

नोट—३ यहाँ *'हरि रूपा'* का प्रयोग करके चारों कल्पोंके कथावक्ताओंकी भावनाओंका समन्वय कर दिया है। इसी हेतुसे कविने चतुर्भुज और आयुध इत्यादिका उल्लेख भी नहीं किया है। जैसा *'निज आयुध भुज चारी'* में भी समन्वय निहित है। चाहे द्विभुज रामरूप, चाहे चतुर्भुज विष्णुरूप अथवा चतुर्भुज नारायणरूप वक्ताके कल्पकी कथानुसार समझ लें।

छंद—जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।
दससीस बाहु प्रचंड खंडन चंड सर मंडन मही॥
पाथोद गात* सरोज मुख राजीव आयत लोचनं।
नित नौमि रामु कृपाल बाहु बिसाल भवभयमोचनं॥ १॥

शब्दार्थ—सही=सत्य, प्रामाणिक।=शुद्ध। **प्रचंड**=तीखे, प्रखर, प्रबल। चंड=तीक्ष्ण=उद्धत, कुपित। **मंडन**=भूषण; भूषित करनेवाले। **पाथोद**=जल देनेवाले श्याम मेघ। **आयत**=विस्तृत; बड़े।

अर्थ—हे रामजी! जिनका उपमारहित रूप है, जो निर्गुण हैं, सगुण हैं और सत्य ही शुद्ध गुणोंके प्रेरक हैं† ऐसे आपकी जय हो। दशशीश (रावण) की प्रचण्ड भुजाओंको खण्डन करनेके लिये तीक्ष्ण और कुपित बाण धारण करनेवाले, पृथ्वीको भूषित करनेवाले सजल मेघवत् श्याम शरीर, कमलसमान मुख और लाल कमल (दल) के समान बड़े नेत्रवाले, आजानुबाहु (घुटनेतक लम्बी भुजावाले) और भवभयके छुड़ानेवाले कृपालु रामजी! मैं आपको नित्य ही नमस्कार करता हूँ॥ १॥

टिप्पणी—१ *'जय राम रूप अनूप निर्गुन'* इति। *अनूप,* यथा—*'उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कबि कोबिद कहैं', 'निरुपम न उपमा आन रामसमान राम निगम कहैं।'* (७। ९२) *'निर्गुन सगुन'* यथा—*'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।'* (७। १३) निर्गुन अर्थात् गुणोंसे पृथक् त्रिगुणातीत हो सत्त्व, रज, तम मायिक गुणोंसे रहित। सगुण अर्थात् गुणके सहित हो, और गुणोंके प्रेरक हो। [निर्गुण=अव्यक्त गुणवाले। सगुण=व्यक्त गुणवाले। यथा—'**व्यक्ताव्यक्तस्वरूपस्त्वं गुणभृन्निर्गुणः परः।**' (प० पु० उत्तर २४। ७४) *'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।'* (६। ११२) विशेष (१। २३) में देखिये। जो निर्गुण है वही सगुण है, जबतक गुण व्यक्त नहीं होते तबतक वह निर्गुण कहलाता है और जब उसके गुण प्रकट होते हैं तब वह सगुण कहलाता है। बालकाण्डमें *'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा', 'एक दारुगत देखिय एकू'* (दोहा २३। १,४) तथा *'जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे।'* (१। ११६। ३) में देखिये।] जब सगुण कहा तब गुणके वश होना पाया गया, अतः गुणका प्रेरक कहकर बताया कि वे गुणोंके वशमें नहीं हैं। गुण उनके वशमें हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेश जो त्रिगुणमय हैं वे इनके आज्ञाकारी हैं। यथा—*'बिधिहरिहर बंदित पद रेनू।'* (मनु)

प० प० प्र०—*'गुन प्रेरक'* इति। सब विषय, इन्द्रियाँ, त्रिगुण और त्रिगुणोंका सब कार्य अर्थात् माया और मायाका सब कार्य 'गुण' शब्दसे वाच्य है। इनका प्रेरक ब्रह्म है। यथा—*'माया प्रेरक सीव।'* (१५) *'बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति*

---

* भा दा० में 'गाद' पाठ है, अन्य सबमें 'गात' है। गादका अर्थ यहाँ कुछ समझमें नहीं आता अतः इस तिलकमें भी 'गात' ही रखा गया।

†१—बैजनाथजी अर्थ करते हैं कि 'आपका रूप निर्गुण (व्यापक), सगुण (अवतार आदि एवं विराट् आदि) और त्रैगुण तीनोंका प्रेरक है, अतः अनुपम है।' २—उपर्युक्त अर्थमें अनुपमता यह है कि सगुण, निर्गुण गुणप्रेरक सभी हैं, एक ही रूपमें सब बातें; न निर्गुण ही कह सकें न सगुण और फिर भी यही रूप दोनोंका आधाररूप है।

सोई॥' (१। ११७) ब्रह्मगायत्रीमें भी भगवान‌्को बुद्धिका प्रेरक कहा है। यथा—'**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥**' अर्थात् जो हम लोगोंकी बुद्धिको प्रेरणा करते हैं, ऐसे जगत्स्रष्टा ईश्वरके श्रेष्ठ तेजका हमलोग ध्यान करें। ('**प्रचोदयात्**' का अर्थ है 'प्रेरणा करें' किंतु यहाँ भाव उपर्युक्त है। प्रार्थनाका भाव भी ले सकते हैं)।

टिप्पणी—२ '***दससीस बाहु प्रचंड*********'** अर्थात् रावणने अपनी प्रचण्ड भुजाओंसे मेरे पक्ष काटे हैं। उन भुजाओंके काटनेको आपके बाण चण्ड—अर्थात् कोपे हुए हैं। प्रचण्डको 'चण्ड' से नाश करनेवाले हैं। '***मंडन मही***', यथा—'***दससीस बिनासन बीस भुजा कृत दूरि महामहि भूरि रुजा।***' (७। १४) अर्थात् रावणको मारकर आप पृथ्वीको भूषित करेंगे। यहाँ रावणके बाहुको इससे कहा कि आगे चलकर रामजीकी भुजाओंका वर्णन है।

नोट—१ '***महि मंडन***', यथा—'***महि मंडल मंडन चारु तरं।***' (७। १४) यह शिवजीने '***दससीस बिनासन बीस भुजा***' कहकर तब कहा है, वैसे ही जटायुजी कह रहे हैं। क्योंकि श्रीरामजी रावणवधके पश्चात् राजा हुए। राक्षसोंके वधसे ही भूषणरूप हुए, यथा—'***मनुज तनु दनुज-बन-दहन मंडन मही।***' (गी० ७। ६) (रामभक्तोंके सम्बन्धमें भी ऐसा ही कहा है, यथा—'***सोइ महि मंडित पंडित दाता। रामचरन जाकर मन राता॥***' इस तरह भक्त और भगवान‌्में अभेद सिद्ध हुआ। प० प० प्र०)।

नोट—२ 'रावण अभी मरा नहीं तब '***दससीस बाहु प्रचंड खंडन***' कैसे कहा? उत्तर—यह 'भाविक अलंकार' है। दूसरे कारण ये हैं कि—(१) यहाँ दिव्य शरीर होनेसे दिव्य ज्ञान प्राप्त है। (२) आशीर्वादात्मक स्तुति है, यह आशीर्वाद ही है कि ऐसा होगा। (३) राम सत्यसन्ध हैं, वे प्रतिज्ञा कर चुके हैं, अतः निस्संदेह है। (४) लीला नित्य है, सदा ऐसा होता आया है, यह वह जानता है अतः भविष्य कहा, यथा—लक्ष्मणवाक्य—'***प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी।***'

टिप्पणी—३ '***पाथोद गात सरोज मुख*********भवभय मोचनं***' इति। यहाँ सब अंगोंको कहकर अन्तमें '***भव-भय-मोचन***' पद देकर जनाया कि इस पदका अन्वय सबके साथ है, सभी अंगोंसे इसका सम्बन्ध है, यह सबका विशेषण है। अर्थात् प्रभुके सभी अंग मुख, नेत्र, बाहु आदि भवभयके छुड़ानेवाले हैं। श्यामगात भवभयमोचन है, यथा—'***स्यामल गात प्रनत भय मोचन।***' (५। ४५। ४) मुख, यथा—'***होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भवमोचन॥***' (१०। ९) नेत्र, यथा—'***राजीव बिलोचन भवभय मोचन पाहि पाहि सरनहि आई।***' (१। २११) 'बाहु', यथा—'***सुमिरत श्रीरघुबीरकी बाहैं। होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं॥***' (गी० ७। १३) '***आयत लोचनं***' अर्थात् कर्णपर्यन्त, कानोंके पासतक लम्बे। यथा—'**कर्णान्त दीर्घनयनं नयनाभिरामम्।**'

टिप्पणी—४ '***रामकृपाल***' का भाव कि मुझसे अधम पक्षीपर भी आपने कृपा की। बाहु विशाल हैं, अर्थात् आप आजानुबाहु हैं। पुनः, विशालता यह कि जहाँ ही दासपर संकट पड़ता है वहीं आपकी भुजाएँ संकट निवारणके लिये रक्षाको प्राप्त हैं।

नोट—३ '***जय राम***' इस प्रकारसे स्तुतियोंका आरम्भ रावणवधके पहले और पश्चात् एवं राज्याभिषेकपर भी है। जैसे—(क) '***जय रामरूप अनूप**********।***' यहाँ '***जय राम सदा सुखधाम हरे**********'** (ब्रह्माकृत)। '***जय राम सोभाधाम दायक प्रनत बिश्राम***' (इन्द्रकृत) '***जय राम रमारमनं*************' (शिवकृत) और '***जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने***'—(वेदस्तुति)। पर इस काण्डमें अत्रिजी आदिने जो स्तुतियाँ कीं उनमें यह रीति नहीं है। प्रथम और अन्तिम स्तुति इस प्रकारसे प्रारम्भ की हुई (वनवासके पश्चात् और रावणवधके पूर्व) यही है।

अतः यह भाव भी यहाँ संगत है कि रावणवधकी प्रतिज्ञा करनेके पश्चात् अब सीताहरण होनेके कारण उससे युद्ध होना निश्चित है। अतः गृध्रराज आशीर्वादात्मक वचनोंसे स्तुति प्रारम्भ कर रहे हैं। दूसरे, गृध्रराज रामजीको पुत्र मानते थे ही, अतएव वे पितासरीखे आशीर्वाद दे रहे हैं। इस समय हरिरूपसे यह आशीर्वाद है और देवताओंके वचन सत्य होते है; अतः वे अवश्य सत्य होंगे।

छंद—बलमप्रमेयमनादिमजमब्यक्तमेकमगोचरं।
गोबिंद गोपर द्वंद्वहर बिज्ञानघन धरनीधरं॥
जे राममंत्र जपंत संत अनंत जन मन रंजनं।
नित नौमि राम अकाम प्रिय कामादि खल दल गंजनं॥ २॥

शब्दार्थ—**अव्यक्त**=अप्रकट, अदृश्य। **द्वंद्व**= दो परस्पर विरुद्ध वस्तुओंका जोड़ा जैसे शीत-उष्ण, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, जन्म-मरण इत्यादि। **गोबिंद**=इन्द्रियोंके प्रेरक, उनको सत्ताके देनेवाले, भगवान्‌का नाम।

अर्थ—प्रमाणरहित बलवाले, अनादि, अजन्मा, अव्यक्त, अद्वितीय, अगोचर, गोविन्द, इन्द्रियोंसे परे, जन्म-मरण आदि द्वन्द्वोंके हरनेवाले, विज्ञानसमूह (वा विज्ञानके मेघ), पृथ्वीके आधार, जो संत राममन्त्र जपते हैं उन अनन्त दासोंके मनको आनन्द देनेवाले, निष्काम जिनको प्रिय हैं और जो निष्काम भक्तोंके प्रिय हैं, कामादि दुष्टोंकी सेनाका नाश करनेवाले—हे रामजी आपको मैं नित्य नमस्कार करता हूँ॥ २॥

टिप्पणी—१ *'अगोचर गोबिंद गोपर······'* इति। गोविन्द अर्थात् इन्द्रियोंसे जाने जाते हो—**'विद ज्ञाने।'** गोपर अर्थात् इन्द्रियोंसे परे हो। *'गोबिन्द गोपर'* अर्थात् जो इन्द्रियोंसे परे हैं वही आप हमारे नेत्र-इन्द्रियके विषय हो रहे हैं। सगुण-निर्गुणके भेदसे गोविन्द और गोपर कहा। [*बलमप्रमेय*, यथा—*'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई।······'* (३। २) अनादि बालकाण्डमें मङ्गलाचरणमें जो कहा है—*'अशेषकारणपरं'* उसी भावसे अनादि। गोविन्द=इन्द्रियोंकी यावत् शक्ति और उनके विषय हैं उनमें अन्तर्यामी रूपसे प्राप्त। वा, गोविन्द=इन्द्रियोंके भोक्ता इन्द्रियोंके स्वामी। (रा० प्र०, रा० प्र० श०)। गोपर, यथा—*'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥'* (जनकजी), *'मन गोतीत अमल अबिनासी'* (७। १११। ५) द्वंद्वहर, यथा—*'द्वंद बिपति भवफंद बिभंजय।'* (७। ३४)।] 'विज्ञानघन=विज्ञानसमूह, यथा—*'ग्यान अखंड एक सीताबर।'* (७। ७८) धरनीधर=कमठ और वाराह रूपसे पृथ्वीके आधार। अकाम प्रिय=जिनको कुछ भी कामना नहीं, अर्थात् निष्काम भक्तोंके आप प्यारे हैं; यथा—*'ते तुम्ह राम अकाम पियारे'* (अत्रि) इसीसे कामादि खल-सेना जो षट्‌विकाररूपी शत्रु हैं उनके नाशकर्त्ता हैं। पुनः, भाव कि सकाम लोगोंको आप स्वाभाविक ही प्रिय लगते हैं क्योंकि उनकी कामनाओंको आप पूर्ण करते हैं। पर जो निष्काम हैं उनको भी आप प्रिय हैं यद्यपि उनको किसी पदार्थकी कामना नहीं है। यथा—*'जिन्हहिं न चाहिए कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह।'* (खर्रा—अकामियोंको प्रिय हो और कामादि खलदलके नाशक हो, ऐसा कहा क्योंकि प्रभु 'कामी' बनकर खोज रहे हैं।)

प० प० प्र०—*'कामादि खलदल गंजनं'*; यथा—*'खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥'* (७। १२०। ६) इससे भक्ति और भगवान्‌का अभेद सिद्ध हुआ। *'दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने।'* (वेदस्तुति) और *'कामादि खल······'* इन दो वाक्योंसे सूचित किया कि रामायणके व्यक्तियोंके विषयमें अध्यात्मदृष्टिसे भी विचार करना चाहिये।

छंद—जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म ब्यापक बिरज अज कहि गावहीं।
करि ध्यान ग्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं॥
सो प्रगट करुनाकंद सोभा-बृंद अग-जग मोहई।
मम हृदय पंकज भृंग अंग अनंग बहु छबि सोहई॥ ३॥

अर्थ—जिन्हें वेद निरंजन, ब्रह्म, व्यापक, निर्विकार, अजन्मा कहकर गाते हैं, जिन्हें मुनि अनेक प्रकारसे ध्यान, ज्ञान, वैराग्य और योग आदि विविध साधन करके पाते हैं, वही आप करुणाकन्द (करुणारूपी-जलकी वर्षा करनेवाले मेघ), शोभाके समूह प्रकट होकर चराचरको मोहित कर रहे हैं। आपके अंग-अंगमें बहुत-से कामदेवोंकी छबि शोभा दे रही हैं—वही आप मेरे हृदयरूपी कमलके भ्रमर हैं॥ ३॥

नोट—१ (क) पूर्वार्धमें निर्गुणरूप और उत्तरार्धमें सगुणरूप कहा। प्रथम दो चरणोंमें *'जेहि'* कहकर उसका सम्बन्ध 'सो' शब्दसे तीसरे चरणोंमें मिलाकर जनाया कि जो व्यापक, विरज, अज ब्रह्म है अर्थात् निर्गुण है, अव्यक्तरूपमें है, वही आप सगुण (व्यक्त) हुए हैं। ब्रह्म, व्यापक आदि शब्दोंके अर्थ और भाव बालकाण्डमें आ चुके हैं। (ख) *'करि ध्यान ग्यान*.......', यथा—*'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।'* (४। १०) (बालि)।

प० प० प्र०—करुणाकंद, यथा—*'कृपा बारिधर राम खरारी।'* (६। ६९। ४),—*'जय कृपा कंद मुकुंद।'* भाव कि जैसे मेघ निर्हेतु, वैषम्यबुद्धिरहित सबपर वर्षा करते हैं वैसे ही आप सबपर दया करते रहते हैं। पर जैसे पाषाणपर पड़नेसे वह तत्क्षण सूख जाता है, एक सीकर भी उसमें प्रवेश नहीं करता तो इसमें वर्षाका क्या दोष? वैसे ही यदि कोई जीव आपकी कृपाका लाभ नहीं उठाता तो आपका क्या दोष?

टिप्पणी—१ (क) जिसका वेद गुणगान करते हैं, मुनिजन ध्यान धरते हैं, जो ऐसे दुर्लभ हैं वे ही आप करुणा करके प्रकट हुए हैं तो हमपर करुणा करके हमारे हृदयमें वास कीजिये। भगवान्‌के अवतारका कारण करुणा है, कपिल सूत्रमें ऐसा उल्लेख है (*'भए प्रगट कृपाला*.......' १। १९२ छंद १ देखिये)। (ख) *'सोभाबृंद अग जग मोहई'* अर्थात् शोभाके समूह प्रकट हुए हो, इसीसे स्थावर-जंगम सभीको मोहित कर रहे हो, यथा—*'देखत रूप चराचर मोहा।'* (१। २०४) *'लिये चोर चित राम बटोही।'* पुनः, [यथा—*'जिन्ह निज रूप मोहिनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नरनारी॥'* (१। २२९। ५) और कौन कहे खरदूषण भी थोड़ी देरके लिये मोहित हो गये। *'सो प्रकट'* कहकर *'सोभाबृंद अग जग मोहई'* कहनेका भाव कि जबतक ब्रह्म अव्यक्त रहा तबतक उसमें शोभा न थी और न वह चराचरको मोहित कर सकता था, जब वह व्यक्त हुआ तब उसकी शोभा हुई, यथा—*'फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा॥'* (४। १७। २) और तभी वह चराचरको मोहित करता है।]

प० प० प्र०—*'मम हृदय पंकज भृङ्ग*.........' इति। मधुप न कहकर भृङ्ग कहनेका भाव कि मेरे हृदयमें आते तो हैं पर निवास नहीं करते। इसीसे अगले छंदमें बसनेकी प्रार्थना करते हैं।

छंद—जो अगम सुगम सुभाव निर्मल असम सम सीतल सदा।
पस्यंति जं जोगी जतनु करि करत मन गो बस सदा॥
सो राम रमानिवास संतत दास बस त्रिभुवन धनी।
मम उर बसउ सो समन संसृति जासु कीरति पावनी॥ ४॥

अर्थ—जो अगम और सुगम है निर्मल स्वभाव (वा, स्वाभाविक ही निर्मल) हैं विषम और सम हैं और सदा शान्त है। जिनको योगी यत्न करके देखते हैं और सदा मन तथा इन्द्रियोंको वशमें किये रहते हैं। वे त्रिलोकके स्वामी रमानिवास रामचन्द्रजी! सदा अपने सेवकोंके वशमें रहते हैं और जिनकी पवित्र कीर्ति (यश) संसारदुःखकी नाशक है वही आप मेरे हृदयमें बसिये॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'अगम सुगम'* यह निर्गुण सगुण भेदसे, यथा—*'निर्गुन सगुण विषम सम रूपं।'* एक अगम दूसरा सुगम। अथवा, कुयोगियोंको अगम्य और योगियोंको सुगम; यथा—'**कुयोगिनां सुदुर्लभम्**' (अत्रिस्तुति), *'पश्यंति जं जोगी जतनु करि।'* इस कथनसे स्वभावमें विषमता पायी जाती है, अतः कहा कि स्वभाव निर्मल है, विकाररहित है। अथवा निर्मल स्वभाववालेको सुगम और मलिन स्वभाववालेको अगम।

टिप्पणी—२ *'असम सम'* अभक्त भक्त भेदसे। यथा—*'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥*.........' *'तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥'* (२१९। २) *'बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन। बचन किरातन्हके सुनत जिमि पितु बालक बैन॥'* (२। १३६) इनसे भी विषमता पायी गयी, अतः कहा कि *'सीतल सदा'*।

प० प० प्र०—१ शंका हो सकती है कि 'एक ही पुरुषमें दो विरुद्ध धर्म कैसे रह सकते हैं?' इसका समाधान यह है कि भगवान्‌में वैषम्य, नैर्घृण्य कदापि नहीं हैं, विषमता साधकोंके अधिकारपर निर्भर रहती है। यथा—'**तद् दूरे त उ अन्तिके। तद् अन्तरस्य सर्वस्य, तद् उ सर्वस्य अस्य बाह्यतः।**' (ईशावास्य०)* '**यः तु अविज्ञानवान् भवति अमनस्कः सदा अशुचिः। न स तत् पदम् आप्नोति संसारं च अधिगच्छति।**' (कठ०)† छंद ३ के '*करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं*' में यह बताया है कि किसको सुगम है। यही बात कठ० (१। ३। ८) में कही गयी है, यथा—'**यः तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत् पदम् आप्नोति न स भूयः अभिजायते॥**'‡ भगवान् तो '*कल्पपादप आरामः*' हैं, पर कल्पतरुके नीचे कोई जाकर कल्पना करे कि सिंह मुझे आकर खा जाय तो वैसा ही होगा, इसमें कल्पवृक्षका क्या दोष? यही बात विनयमें भी कही है—'*तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु को सो ज्यों दरपन मुख कांति।*' (२३३)

प० प० प्र०—२ '*असम सम*' इति। जो अगम-सुगमके विषयमें कहा गया वही इसके विषयमें समझिये। उनमें समविषमत्व नहीं है। वे तो कहते हैं कि '*पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ। सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥*' उत्तरकाण्ड दोहा ८५ से ८७ तक अवश्य पढ़िये। '*सीतल सदा*' यथा—'*भगत उर चंदन*', '*तुम्ह चहुँ जुग रस एक राम*' (वि० २६६)।

टिप्पणी—३ '*पस्यंति जं जोगी*……' इति। कामक्रोधादिके वश होनेसे रूप नहीं देख सकते, अतः मन और इन्द्रियोंको वश करके देखना कहा; यथा—'*मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥*' (१। ११५। ४)

प० प० प्र०—(क) '*पस्यंति जं जोगी जतनु करि*………' इति। यह चरण निर्गुणविषयक भी है।

शंका—तब तो छंद ३ के दूसरे चरण और इन चरणोंमें पुनरुक्ति दोष पड़ेगा?

समाधान—छंद ३ में अनेक शब्दसे जो वाक्य अधूरा रह गया था वह यहाँ पूरा किया गया है। कि १० में वालिने कहा है '*जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं*' छंद ३ और ४ के दूसरे चरणोंमें 'योग' का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है, वह वालिकी उक्तिमें '*जिति पवन*' से कर दिया गया। छंद ३ के 'ध्यान' का अर्थ यहाँ '*मन गो बस करि*' से स्पष्ट किया है। (ख) '*पश्यन्ति*' शब्दसे साकार और निराकार दोनोंका बोध होता है। ब्रह्म साक्षात्कारके लिये भी '*पश्यन्ति*' का प्रयोग होता है। बाल० में श्लोक० २ '**याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्**' देखिये। (ग) इस छंदके प्रथम और दूसरे चरणोंके अन्तमें 'सदा' शब्द आया है। इसमें कविकी सावधानताका परिचय मिलता है। 'जदा' लिख देनेसे अनर्थ हो जाता, उसमें अतिव्याप्ति दोष आ जाता। क्योंकि तब अर्थ होता कि 'जब कोई एक क्षणभर भी मन और इन्द्रियोंको वशमें करेगा तो उसको साक्षात्कार हो जायगा'। पर ऐसा नहीं है। मन और इन्द्रियोंको सदा-सर्वदा वशमें रखनेवालेको ही 'स्थितप्रज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ' कहते हैं। एक निमिषभर इन्द्रियोंको वशमें करनेसे सदा शीतलता, शान्ति, सुखकी प्राप्ति नहीं होगी। जो योगी मन को 'सदा' वश नहीं कर सकते उनके लिये ही कहा है—'*पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी॥*'

---

* यह ईशावास्योपनिषद्‌की पाँचवीं श्रुति है जिसको स्वामीजीने पदच्छेद करके लिखा है। गी० प्रे० ने इसका प्रथम अर्थ यही किया है कि—'एक ही कालमें परस्पर विरोधी भाव, गुण तथा क्रिया जिनमें रह सकती है, वे ही परमेश्वर हैं। यह उनकी अचिन्त्य शक्तिकी महिमा है। पुनः, …………वे श्रद्धा-प्रेमरहित मनुष्योंके लिये है दूर-से-दूर हैं और प्रेमियोंके लिये समीप-से-समीप हैं।……'

† यह कठ० १। ३। ७ का पदच्छेद है। अर्थ—'जो सदा विवेकहीन बुद्धिवाला, असंयतचित्त और अपवित्र रहता है, वह उस परम पदको नहीं पा सकता, किंतु बार-बार भवमें पड़ता रहता है।'

‡ यह श्रुतिका पदच्छेद है। अर्थात् 'जो सदा विवेकशील बुद्धिसे युक्त, संयतचित्त और पवित्र रहता है वह उस परमपदको प्राप्त होता है जहाँसे पुनः लौटना नहीं होता।'

प० प० प्र० *'संतत दास बस.........'* इति। (क) जो मुनियोंको अनेक साधन करनेपर कहीं ध्यानमें आते हैं, वे दासके वशमें रहते हैं, *'संतत'* सदाके लिये, यह आश्चर्य है पर सत्य है। जटायु पूर्णकाम हैं, वे *'दास'* शब्दका प्रयोग कर रहे हैं इससे इसमें वैशिष्ट्य झलकता है। *'सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥'* इन वचनामृतमें *'सेवक'* और *'दास'* दोनों शब्द आये हैं। दासकी व्याख्या मानसकी इन चौपाइयोंसे हो जाती है—*'विश्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं.........'* ॥ (७। १३) *'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥'* अर्थात् सब आशाएँ जिसने छोड़ दीं, एक मात्र प्रभुपर निर्भर है, प्रभुमें पूर्ण विश्वास है, किसी मनुष्यसे कभी कोई आशा नहीं करता, वही 'दास' है, सेवककी व्याख्या यह है—*'सेवक सो जो करइ सेवकाई'*, *'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥'* (पुरजनगीता ७। ४३) (ख) *'संसृति'*—**'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्'** यही संसार है। प्रपंच और संसारमें भेद यह है कि प्रपंचमें विषयोंका सञ्चय और विस्तार होता है—**'प्रपंचः संचयेऽपि स्यात् विस्तरे च प्रतारणे।'** इति। (मेदिनी) विषयोंमें ममत्व प्रपञ्च है और उसका फल है संसरण, भवचक्रपर घूमते रहना।

टिप्पणी—४ *'त्रिभुवनधनी.......'* का भाव कि तीनों लोक आपके अधीन है, ऐसे होते हुए भी आप दासोंके वशमें हैं, उनके लिये अवतार लेते हैं, पवित्र कीर्तिको फैलाते हैं; यथा—*'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तन धरहीं॥'*

टिप्पणी—☞ ५ (क) प्रथम ही स्तुतिके प्रारम्भमें कहा कि आप ही निर्गुण हैं, आप ही सगुण हैं, इसीसे दोनों रूपोंकी व्याख्या स्तोत्रभरमें की। *'जेहि श्रुति निरंजन.........'* इस छंदमें निर्गुणका वर्णन किया और *'जो अगम सुगम.......'* इसमें सगुणका वर्णन किया। (ख) ब्रह्म और विष्णु दोनोंके अवतार होते हैं, यथा—*'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥'* (१। ५०) *'बिष्नु जो सुरहित नरतनु धारी।'* इस स्तुतिमें दोनों अवतरणोंका वर्णन है। विष्णुके छंदमें 'रमानिवास' पद देकर उस छंदमें विष्णुके रामावतारकी स्तुतिका होना स्पष्ट कर दिया। दोनोंके अवतारोंमें हृदयमें निवास माँगकर जनाया कि दोनों आप ही हैं। (ग) प्रभुने कहा था कि *'देउँ काह तुम्ह पूरन कामा'*, इसपर गृध्रराजने *'मम उर बसउ'* और 'अबिरल भक्ति' माँगी।

खर्रा—१ इस स्तवमें चार छंद हैं। जान पड़ता है कि इनमें चारों वेदोंका अभिप्राय पृथक्-पृथक् (एक-एक छंदमें एक-एकका) दर्शित किया गया है।

खर्रा—२ गृध्रराजके छंदमें कई बातें स्मरण रखने योग्य हैं। इसमें कई नियम भङ्ग हुए हैं। देखिए, एक ही चौपाईपर छंद कहीं और ग्रन्थभरमें नहीं आया। पुनः, छंदोंमें पिछली चौपाईके अंतिम शब्द प्रायः सर्वत्र आये हैं पर यहाँ ऐसा नहीं हुआ। वैसे ही गृध्रराजकी गतिमें यह अद्भुत बात हुई कि *'धरि हरि रूप'* अर्थात् यहीं हरिरूप हो गये। गति तो दशरथजी, शबरीजी, शरभङ्गजी इत्यादि कई भक्तोंने पायी, पर यह सारूप्यमोक्ष यहीं पृथ्वीपर ही प्रत्यक्ष इन्हींको मिला। प्रभुके लिये शरीर समर्पण कर दिया उसीका यह फल है, उसीसे यह अद्भुत गति और यह विलक्षणता यहाँ दिख रही है। दोहा ३२ का नोट भी देखिये।

दो०—अबिरल भगति मागि बर गीध गएउ हरिधाम।
तेहि कि क्रिया* जथोचित निज कर कीन्ही राम॥ ३२॥

अर्थ—अविरल भक्तिका वरदान माँगकर गृध्रराज भगवद्धामको गये। श्रीरामचन्द्रजीने उनकी क्रिया जैसी उचित थी, विधिपूर्वक अपने हाथोंसे की॥ ३२॥

* कृया—भा० दा०। क्रिया—का०, रा० पा०।

टिप्पणी—१ देखिये मुक्ति तो भगवान्‌ने अपनी ओरसे दी; यथा—*'तन तजि तात जाहु मम धामा'*, पर भक्ति माँगनेपर मिली; यथा—*'भगति माँगि बर'*, इससे मुक्तिसे भक्तिका दर्जा अधिक पाया गया; यथा—***'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ भगति हीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु ब्यंजन जैसे॥'*** (७। ८४) **'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् नहि भक्तियोगं'** (भागवत) विशेष ११ (२१) में देखिये।

टिप्पणी—२ *'तेहि की क्रिया जथोचित……'* इति। यथोचित=शास्त्रोक्त रीतिसे, जैसा कुछ शास्त्रमें विधान है। श्रीरामजी गृध्रराजको पिताके समान मानते थे, अतः उनकी क्रिया स्वयं की। लक्ष्मणजीसे दाहकर्म न कराया, क्योंकि पिताकी क्रियाका ज्येष्ठ पुत्र विशेष अधिकारी कहा गया है।

टिप्पणी—३ इस स्तोत्रमें नाम, रूप, लीला और धाम चारोंका महत्त्व कहा है।—(१) नाम—*'ये राममंत्र जपंत संत……।'* (२) रूप—*'जय राम रूप अनूप……'*। (३) लीला—*'दससीस बाहु प्रचंड खंडन चंड सर।'* (४) धाम—*'मागि बर गीध गयउ हरिधाम।'*

नोट—१ दोहावलीके निम्न दोहे गृध्रराजकी गतिपर स्मरण रखने योग्य हैं—

'दसरथ ते दसगुन भगति सहित तासु करि काज। सोचत बंधु समेत प्रभु कृपासिंधु रघुराज॥'

अर्थात् दाहकर्म होनेपर जैसे प्राणीका शोक किया जाता है, वैसे ही प्रभुने शोक भी किया।

'प्रभुहि बिलोकत गोदगत सिय हित घायल नीचु। तुलसी पाई गीधपति मुकुति मनोहर मीचु॥

रघुबर बिकल बिहंग लखि सो बिलोकि दोउ बीर। सियसुधि कहि सियराम कहि देह तजी मतिधीर॥

मुये मरत मरिहैं सकल घरी पहरके बीच। लही न काहू आज लगि गीधराज की मीच॥'

नोट—२ *'क्रिया यथोचित कीन्ही।'* इति। वाल्मी० स० ६८ में लिखा है कि श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे जटायुके मरनेपर कहा कि यह पक्षी बहुत वर्षोंसे दण्डकारण्यमें बसता रहा है, आज वह मारा गया, काल बड़ा प्रबल है, उससे किसीकी नहीं चलती। देखो, आज यह हमारा उपकारी मारा गया। सीताकी रक्षा करनेके कारण बली रावणने इसे मारा। अपने पिता-पितामहसे आया हुआ गृध्रोंका राज्य हमारे लिये त्यागकर हमारे लिये इसने अपने प्राण अर्पण कर दिये। धर्मात्मा सज्जन, शूर, शरणागतरक्षक पक्षिसमाजमें भी पाये जाते हैं। सीताहरणका आज मुझे वैसा शोक नहीं है जैसा हमारे निमित्त प्राण न्योछावर कर देनेवाले इस गृध्रका—**'सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम्। यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परन्तप॥'** (वाल्मी० ६८। २५) जैसे महाराज दशरथ हमारे पूज्य और मान्य हैं, वैसे ही ये पक्षिराज भी हैं—**'राजा दशरथः श्रीमान्यथा मम महायशाः। पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः॥'** (६८। २६) लक्ष्मण! लकड़ी एकत्र करो मैं इन गृध्रराजका जो मेरे लिये मारे गये, अग्नि संस्कार करूँगा। 'यज्ञ करनेवालोंको, अग्निहोत्रियों, युद्धमें सम्मुख लड़नेवालों और पृथ्वी-दान करनेवालोंको जो गति प्राप्त होती है तुम उसीको प्राप्त हो, मैं तुम्हारा संस्कार कर रहा हूँ।' ऐसा कहकर अपने बान्धवोंकी तरह दुःखी होकर उसका संस्कार किया। उसको पिण्डदान दिया। उसके लिये उन मन्त्रोंका जप किया जो ब्राह्मण मृतप्राणीको स्वर्ग-प्राप्तिके लिये जपा करते हैं, गोदावरीमें स्नान करके उनके लिये जल दिया—**'ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ। उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ॥'** (वाल्मी० ६८। ३५)

प० प० प्र०—१ *'धरि हरि रूपा'* से उपक्रम करके *'गयउ हरिधाम'* पर उपसंहार किया। 'हरि' शब्दका वैशिष्ट्य *'हरिरूपा'* में लिखा गया।

प० प० प्र०—२ *'क्रिया जथोचित'*, यथा—***'पितु ज्यों गीधक्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो। ऐसे प्रभुहि बिसारि तुलसी सठ तू चाहत सुख पायो॥'*** (गी० ३। १६) पक्षियोंकी अन्त्यक्रिया किस शास्त्रमें लिखी है, आधुनिक चिकित्सक यह प्रश्न करेंगे, अतः यह उद्धरण दिया गया। यह है प्रेमसद्भावना-शास्त्र जो हरिविमुखोंको अगम है। जिस विधिसे पिताकी क्रिया की जाती है, उसी विधिसे की गयी। ऐसे अवसरोंमें जैसी भावना वैसी विधि!

प० प० प्र०—श्रीजटायुकृत स्तुति हस्तनक्षत्र है। दोनोंमें अनुक्रम, नाम, (तारा) संख्या, (नक्षत्रका) आकार और देवता इन पाँचों बातोंका साम्य और 'गुणग्राम' की फलश्रुतिका साम्य नीचे दिखाया जाता है।

अनुक्रम—यह तेरहवीं स्तुति है और तेरहवाँ नक्षत्र 'हस्त' है।

नाम—यहाँ *'कर सरोज सिर परसेउ।'* से उपक्रम और *'निज कर कीन्हीं राम'* से उपसंहार है। प्रत्यक्ष श्रीरामजीका *'कर'* (हस्त) है और नक्षत्रका नाम भी 'हस्त' है।

आकार—हस्तनक्षत्रका आकार उसके नाम (अर्थात् मनुष्यके हाथ) के समान है। स्तुतिमें नक्षत्राकार साम्य बतानेमें एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि जैसा नक्षत्रके तारोंसे ही नक्षत्रका आकार बनता है, वैसा स्तुति-नक्षत्रका आकार भी स्तुति ताराओंसे ही बना हुआ बताना चाहिये। यह हाथ है रामजीका, अतः स्तुतिके तारे भी रामजीसे सम्बन्धित होने चाहिये। हाथका आकार अङ्गुष्ठ और चार अँगुलियोंसे बनता है। आगे ताराओंका मिलान बताया जाता है उससे स्पष्ट हो जायगा।

तारा संख्या—हस्तनक्षत्रमें पाँच तारे हैं। (कहीं-कहीं ज्योतिष ग्रन्थोंमें छः भी बताये गये हैं) इधर स्तुतिके प्रत्येक छंदमें निर्गुणरूप, सगुणरूप, नाम, गुण और महिमा (महिमाके दो विभाग, निर्गुणकी महिमा और सगुणकी महिमा, करनेपर छः तारोंका अस्तित्व भी मिलता है) इन पाँचोंका अस्तित्व देखिये। *'जय राम रूप अनूप निर्गुण'* इसमें नाम, सगुणरूप, निर्गुणरूप। 'गुणप्रेरक' से महिमा, 'अनुपम' से गुणका ग्रहण हो गया। दूसरे चरणमें, *'दससीस बाहु प्रचंड खंडन'* में महिमा, *'चण्डसर'* से सगुणरूप, *'मंडन मही'* से 'गुण' *'पाथोदगात सरोज मुख राजीव आयत लोचन'* में सगुणरूप। *'नित'* से गुण, *'नौमि'* से महिमा, *'राम'* नाम, *'कृपाल'* से गुण, *'बाहु बिसाल'* से सगुण रूप, और *'भव भय मोचन'* से महिमा। इसी प्रकार चारों छंदोंमें 'महिमा नाम रूप (सगुण, निर्गुण) गुण' इन पाँचोंका अस्तित्व देख लीजिये।

देवता—यह स्तुति है श्रीरामचन्द्रजीकी। श्रीरामजीको सूर्य कहा है। यथा—*'राम सच्चिदानंद दिनेसा', 'भानुकुल-भूषण भानु।'* हस्तका देवता रवि है।

फलश्रुति—गुणग्राममें तेरहवीं फलश्रुति है—*'काम कोह कलिमल करिगन के। केहरि सावक जन मन बन के।'* और इस स्तुतिके *'कामादि खल दल गंजनं'*, 'द्वंद्वहर'—(ये *'काम कोह कलिमल करिगण'* हैं), *'हृदय पंकज भृंग', 'हृदय बसहु'*—(इनमें *'केहरि सावक जन मन बनके'* का भाव है)।

नोट—पाँच अँगुलियोंमें, अँगूठेकी जातिकी दूसरी नहीं है। (एकमेवाद्वितीय) इससे अँगूठा=निर्गुण रूप, और चार अँगुलियोंमें मध्यमाङ्गुलि=सगुण रूप। तर्जनी=महिमा। अनामिका=नाम। और कनिष्ठिका=गुण। पं० वि० त्रि० लिखित 'मानस प्रसंग' के हस्तनक्षत्र-वर्णनसे जरूर मिलान कीजिये। (प० प० प्र०)

कोमल चित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥ १॥
गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥ २॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥ ३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी अत्यन्त कोमल चित्त, अत्यन्त दीनदयाल और कारणरहित कृपालु हैं॥ १॥ गृध्र अधम पक्षी और मांसका खानेवाला था उसको भी वह गति दी जो योगी माँगा करते हैं॥ २॥ हे उमा! सुनो, वे लोग अभागे हैं जो भगवान्‌को छोड़कर विषयोंसे अनुराग करते हैं (विषयासक्त होते हैं)॥ ३॥

प० प० प्र०—(क) जटायुजीके उद्धारकी कथाका सार शिवजी पार्वतीजीको तीन चौपाइयोंमें बताते हैं। (ख) *'कोमल चित अति दीनदयाला'* और *'कोमल चित दीनन्ह पर दाया'* इन दोनों चरणोंमें 'कोमल चित्त' कहकर 'दीनोंपर दया करनेवाले' ऐसा कहनेमें भाव यह है कि कोमल चित्त होनेपर भी सबका दुःख देखनेपर भगवान्‌का चित्त इतना द्रवीभूत नहीं होता, जितना दीनोंके दुःख-क्लेशादि देखनेपर होता है। यहाँके दीनका भाव *'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्हीं कृपा जानि जन दीना॥'* में मिलता है। जो 'जन' (दास) होनेपर भी 'सकल साधन हीन' हैं, अथवा सब साधन करते रहनेपर भी जिनका दृढ़ विश्वास

है कि मुझसे कुछ भी साधन नहीं बनता, वे ही 'दीन' हैं।

टिप्पणी—१ *'कोमल चित अति दीनदयाला।.........'* इति।—'अति, दीपदेहरी है। भाव कि कोमल चित्त और दीनदयाल कहीं-कहीं ही मिलते हैं और ये तो अत्यन्त कोमल चित्त हैं और अत्यन्त दीनदयाल हैं। कोमल चित्त हैं, अतः गृध्रराजका दुःख देखकर न सह सके, सुनते ही आँसू भर आये और शरीर रखनेको कहा। दीनदयालु हैं, अतः मुक्ति दी, अपने हाथोंसे क्रिया की। और लोग कारणसे कृपालु होते हैं और ये कारणरहित कृपालु हैं, यथा—*'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह.........।'* (७। ४७। ५) *'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।'* (१। २११)

टिप्पणी—२ *'गीध अधम खग आमिषभोगी'* इति। यहाँ *'आमिषभोगी'* कहकर मांस-भक्षणको दोष ठहराया। यथा—**'यस्त्विह वा उग्रः पशून् पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्ततैले उपरन्धयन्ति।'** (भा० ५। २६। १३) अर्थात् जो महाक्रूर पुरुष इस लोकमें जीवित पशु या पक्षियोंको राँधता है, राक्षसोंद्वारा भी निन्दित उस निर्दय प्राणीको परलोकमें यमराजके सेवक कुम्भीपाक नरकमें ले जाकर खौलते हुए तैलमें राँधते हैं। अधम और माँसभोजीको मुक्ति नहीं मिलती, ऐसेको भी मुक्ति दी और कैसी मुक्ति? *'जो जाचत जोगी'* अर्थात् योगी लोग अष्टाङ्गयोग साधन करके जिसकी याचना करते हैं। यह कारणरहित कृपालुता है। *'गति दीन्हीं'*, यथा—*'खल मनुजाद द्विजामिषभोगी। पावहिं गति जो जाचत जोगी॥'* (६। ४४। २)

टिप्पणी—३ *'सुनहु उमा ते लोग अभागी।'* इति। (क) विषयको त्यागकर श्रीरामपदानुरागी होनेसे मनुष्य भाग्यवान् कहा जाता है, भगवान्‌के धामको जाता है और हरिको त्यागकर विषयानुरागी होनेसे नरकको प्राप्त होता है, अतः उनको अभागी कहा। यथा—*'अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥'* (६। ४४। ६) *'देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥'* (६। ४४। ५) (ख) *'ते लोग'* का भाव कि जब गृध्रने गति पायी तो मनुष्यको गति पानेमें सन्देह ही क्या हो सकता है? मनुष्य देह तो *'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा'* है, इसे *'पाइ न जेहि परलोक सँवारा। सो परत्रदुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ। कालहिं कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ।'* (७। ४३)

टिप्पणी—४ खर्रा—(क) यहाँ तो जटायुने सीताजीके लिये शरीर ही दे दिया तब *'कारन बिनु कृपालुता'* कैसी?

उत्तर—जीवमें जो पुरुषार्थ है वह रामकृपासे है। गीतामें भगवान्‌ने यही कहा है कि पुरुषोंमें पुरुषत्व मैं ही हूँ, बलवानोंका काम-रागसे सर्वथा रहित बल और प्राणियोंमें धर्मसम्मत काम मैं ही हूँ, यथा—**'पौरुषं नृषु॥** (८) **'बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्। धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥'** (अ० ७। ११) देखिये, संपातीने जब जटायुकी मृत्यु, सारूप्यप्राप्ति तथा परधाम-यात्रा आदिका वृत्तान्त वानरोंसे सुना तब उसने इसे रघुनाथजीकी महिमा, उनकी कृपा कही है। यथा—*'सुनि संपाति बंधु कै करनी। रघुपति महिमा बहु बिधि बरनी॥'* (४। २७) इसके पास भगवत्प्रेम और परोपकारशीलता छोड़ और क्या साधन था? यह देखकर भी जो भगवान्‌में प्रेम नहीं करते वे अभागे हैं। (ख) *'गीध अधम खग'* कहनेसे अधमोद्धारण सम्बन्ध लग गया। [☞ इससे उपदेश ग्रहण करना चाहिये कि भक्त भूलकर भी कभी यह न समझे कि यह कार्य मेरी करनीसे हुआ, यह विचार उठा कि वह गिरा, भक्ति गयी। देखिये जटायु महात्माने अपनेको अधम जन्तुभक्षक इत्यादि कहा और प्रभुके दर्शन एवं अपनी सबको ईर्ष्या करानेवाली सद्गतिका भी कारण प्रभुकी कृपा ही मानी और क्यों न मानते? यथा—*'त्रिजग जोनिगत गीध जनम भरि खाइ कुजंतु जियो हौं। महाराज सुकृती समाज सन ऊपर आजु कियो हौं॥'* (गी० ३। १४) ऐसा कहना उनके योग्य ही था। यही नहीं यदि कभी कोई आपके पुरुषार्थकी प्रशंसा करे तो उसे अपना शत्रु ही समझिये। दूसरा भक्त भी उसमें प्रभुकी करनी और भक्त-वत्सलता देखेगा। यही कारण है कि जटायुके भाई सम्पातीने भी बन्धुकी करनीको 'रघुपति महिमा' कही और पूज्य कवि

भी इस गतिमें प्रभुकी ही प्रभुता, कृपालुता आदि कह रहे हैं—*'गति दीन्ही'* कहते हैं न कि *'गति पाई'*।—पूर्व भी इस विषयमें लिखा जा चुका हैं।]

'पुनि प्रभु गीध क्रिया जिमि कीन्ही' प्रसंग समाप्त हुआ।

'कबन्ध-वध' प्रकरण

पुनि सीतहि खोजत द्वौ भाई। चले बिलोकत बन बहुताई॥ ४॥

संकुल लता बिटप घन कानन। बहु खग मृग तहँ गजपंचानन॥ ५॥

शब्दार्थ—**बहुताई**=बहुतायत, अधिकता, सघनता। **संकुल**=परिपूर्ण।

अर्थ—फिर दोनों भाई श्रीसीताजीको ढूँढ़ते हुए आगे चले। वे वनकी बहुतायत और सघनता देखते जाते हैं॥ ४॥ लताओं और वृक्षोंसे भरपूर वह वन सघन है। उसमें बहुत-से पक्षी, मृग, हाथी और सिंह हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'पुनि सीतहि खोजत द्वौ भाई………'* इति। (क) खोजतेसे प्रसङ्ग छोड़ा था; यथा—*'एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी।'* वहींसे फिर प्रसङ्ग उठाया। बीचमें गृध्रराजके पास देर लगी। उनसे सीताजीकी खबर मिल गयी, अतः अब विरहमें कुछ बीच पड़ गया। कुछ कमी उसमें आ गयी। पहले 'खोजत और बिलपत' दोनों बातें दिखायीं, अब विलाप नहीं करते, केवल खोजते हैं—यह विरहमें कमी जना रहा है। (ख) *'चले बिलोकत बन बहुताई'* से भी विरहकी कमी सूचित होती है। कहाँ तो *'पूछत चले लता तरु पाती'* और कहाँ अब उनसे पूछते नहीं, अब उन्हें देखते जा रहे हैं।

२ (क) खबर तो मिल गयी कि रावण ले गया, पर यह न मालूम हुआ कि किस स्थानको ले गया, दिशाका निश्चय हुआ। यथा—*'लै दच्छिन दिसि गयउ गुसाईं………'* न जाने कहाँ छिपा रखा हो। इसीसे कहते हैं कि *'पुनि सीतहि खोजत………।'* (ख) *'बन बहुताई'* वही है जिसकी आगे व्याख्या है—*'संकुल लता………।'* यथा—'**तां दिशं दक्षिणां गत्वा शरचापासिधारिणौ। अविप्रहतमैक्ष्वाकौ पन्थानं प्रतिपेदतुः॥ गुल्मैर्वृक्षैश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम्। आवृतं सर्वतो दुर्गं गहनं घोरदर्शनम्॥**' (वाल्मी० ३। ६९। २-३) अर्थात् दोनों भाई दक्षिण दिशाकी ओर गये। वह मार्ग अनेक गुल्मों और लताओंसे भरा और घिरा हुआ था, देखनेमें भयानक और प्रवेश करनेमें कठिन था।

आवत पंथ कबंध निपाता। तेहि सब कही साप कै बाता॥ ६॥

दुर्बासा मोहि दीन्ही सापा। प्रभु पद पेखि मिटा सो पापा॥ ७॥

अर्थ—श्रीरामजीने रास्तेमें आते हुए कबन्धको मारा। उसने अपने शापकी सारी बातें कहीं॥ ६॥ मुझे दुर्वासाजीने शाप दिया था। अब प्रभुके चरणके दर्शनसे वह पाप मिट गया॥ ७॥

'तेहि सब कही साप कै बाता' इति।

किसी पुराणमें कथा है कि दुर्वासा ऋषिका भयङ्कर स्वरूप देखकर कबन्ध अपने रूपसौन्दर्यके अभिमानसे उनपर हँसा था। कोई कहते हैं कि इन्द्रकी सभामें नाच-गान कर रहा था, दुर्वासाजीको देखकर हँसा, उससे तालमें चूक गया, तब मुनिने शाप दिया। और कोई कहते हैं कि दुर्वासा इसके गानपर प्रसन्न न हुए तब यह उन्हें अनभिज्ञ कहकर हँसा, इसपर मुनिने शाप दिया कि राक्षस हो जा। अस्तु।

अ० रा० में अष्टावक्रका शाप कहा गया है और वाल्मीकिरा० में स्थूलशिरा ऋषिका शाप देना कहा है। यथा—'**ऋषीन्वनगतान्राम त्रासयामि ततस्ततः। ततः स्थूलशिरा नाम महर्षिः कोपितो मया॥ स चिन्वन्विविधं वन्यं रूपेणानेन धर्षितः। तेनाहमुक्तः प्रेक्ष्यैवं घोरशापाभिधायिना॥ एतदेवं नृशंसं ते रूपमस्तु विगर्हितम्**' (३। ७१। ३—५) अर्थात् मैं वनमें रहनेवाले ऋषियोंको डरवाया करता था, स्थूलशिरा मुझपर

अप्रसन्न हो गये। वे वनमें फूल चुन रहे थे, मैंने इस रूपसे उन्हें डरवाया। तब उन्होंने शाप दिया कि यह क्रूररूप तेरा सदाके लिये रहेगा।

कबन्धकी कथा—जनस्थानसे तीन कोसपर क्रौञ्चवन है। यहाँसे तीन कोस पूर्वकी ओर जाकर क्रौञ्चवनको पार करनेपर मतङ्गऋषिका आश्रम देख पड़ता है जो बड़े भयानक वनमें है। इस वनके बाद फिर एक गहन वन मिला, उसमें कबन्ध रास्तेमें मिला।

वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वह नीले मेघके समान भयानक था। उसके न मस्तक था न गला ही। शरीरके रोएँ तीक्ष्ण थे। छातीमें एक भयानक आँख थी और चार कोस लम्बी भुजाएँ थीं। ज्यों ही भयानक मुँह फैलाकर वह दोनों भाइयोंकी ओर उन्हें खानेको लपका, त्यों ही दोनोंने उसकी एक-एक भुजा कंधेसे काटकर अलग कर दी। बाहुके कटनेपर वह पृथ्वीपर घोर शब्द करता हुआ गिर पड़ा और बड़ा दीन होकर उसने पूछा कि आपलोग कौन हैं? परिचय देनेपर वह बहुत प्रसन्न हुआ और अपना हाल श्रीराम-लक्ष्मणजीसे यों कहने लगा—

मैं इन्द्र, सूर्य और चन्द्रमाके समान सुन्दर अचिन्तनीय रूपवाला था, बड़ा पराक्रमी और महाबलवान् था। पर ऋषियोंको भयानकरूप धरकर डरवाया करता था। अन्ततोगत्वा स्थूलशिरामुनिने (जिनको मैंने फूल चुनते समय इस रूपसे डरवाया था) मुझे शाप दे दिया कि तेरा सदैव यही निन्दित रूप बना रहे। मेरी प्रार्थनापर उन्होंने शापानुग्रह यों किया कि जब श्रीरामचन्द्रजी तेरी भुजाएँ काटकर तुझे जलायेंगे तब तू पुन: अपने असली रूपको प्राप्त होगा। मैं दनुका पुत्र हूँ। मुनिके शापके पश्चात् मैंने तप करके ब्रह्माजीसे दीर्घायु पायी। तब इस अभिमानसे कि अब इन्द्र मेरा क्या कर सकता है, मैंने इन्द्रको ललकारा। उन्होंने ऐसा वज्र मारा कि मेरा मस्तक और जंघे शरीरमें घुस गये। मैंने प्रार्थना की कि मेरा सिर और मुख तो वज्रसे टूट गये। मैं बिना खाये कैसे जीवित रहूँगा? तब उन्होंने मुझे एक योजन लम्बी भुजाएँ और पेटमें एक तीक्ष्ण दाँतवाला मुँह दिये, जिसके द्वारा मैं चार कोस तकके पशु-पक्षी आदिको पकड़कर खा जाता था। जो भी सुन्दर पदार्थ देखनेमें आता, उसे मैं इस विचारसे खींच लाता कि एक-न-एक दिन श्रीरामचन्द्रजी भी मेरी पकड़में आ जायेंगे, तब मेरा यह शरीर छूटेगा। (वाल्मी० ७१। १—१७) अब आप मेरा अग्निसंस्कार सूर्यास्तके पूर्व ही कर दीजिये। शरीर जलते ही उसका दिव्य शरीर अग्निमेंसे प्रकट हुआ। वह हंसोंके रथपर तेजस्वी प्रकाशमय शरीरसे सुशोभित था। उसने शबरीजी और सुग्रीवका पता दिया। (सर्ग ७१। ३१, सर्ग ७२, ७३)

टिप्पणी—***'प्रभुपद पेखि मिटा सो पापा'*** इति। इससे जाना गया कि शाप और अनुग्रह दोनों कहे। मुनिने अनुग्रह किया कि रामदर्शन होगा, उससे पाप-शाप मिट जायगा। शापरूपी पापका प्रायश्चित्त रामचरणदर्शन हुआ।

सुनु गंधर्ब कहौं मैं तोही। मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही॥ ८॥

दोहा—मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।

मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देव॥ ३३॥

अर्थ—हे गन्धर्व! सुन, मैं तुझसे कहता हूँ। मुझे ब्राह्मण-कुलसे वैर करनेवाला नहीं सुहाता॥ ८॥ मन, कर्म और वचनसे कपट छोड़कर जो भूदेव (ब्राह्मणों) की सेवा करता है, मुझ समेत ब्रह्मा-शिव आदि सभी देवता उसके वशमें हो जाते हैं॥ ३३॥

टिप्पणी—१ ***'मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही'*** अर्थात् हम ब्रह्मण्यदेव हैं, ब्राह्मणद्रोही हमारा द्रोही है। अत: मैं तुम्हारा वध करता हूँ। पुन: भाव कि ब्राह्मणके वैरीका मैं वैरी हूँ और उनके भक्तका मैं भक्त हूँ। मैं और त्रिदेव सभी ब्राह्मणभक्तके वश रहते हैं; यथा—***'जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तुअ बस बिधि बिष्नु महेसा॥'*** (१। १६५) पर यहाँ दोहेमें विरञ्चि और शिवका नाम दिया, विष्णुका नहीं, ऐसा करके अपनेमें और विष्णु तथा नारायणमें अभेद दर्शाया।

टिप्पणी—२ (क) *'जो कर'* अर्थात् जाति वा वर्णाश्रमका नियम नहीं, कोई भी हो पर मन-कर्म-वचनसे कपट छोड़कर सेवा करे। कपटसे सेवा हो तो वह हमें नहीं वश कर सकता; क्योंकि ***'मोहि कपट छल छिद्र न भावा'*** (५। ४४। ५) ब्राह्मणसे कपट करना भगवान्से कपट करना है, क्योंकि वे भगवान्के रूप हैं; यथा—***'मम मूरति महिदेवमई है।'*** (वि० १३९) ***'मन कर्म बचन'*** अर्थात् मनमें उनकी भक्ति रखे, तनसे सेवा करे, वचनसे मधुर बोले, स्तुति करे। स्वार्थकी चाह कपट है—यथा—***'स्वारथ छल फल चारि बिहाई'*** (२। ३०१। ३) स्वार्थवश या दिखानेके लिये सेवा न करे। (मिलान कीजिये '**किं तस्य दुर्लभतरमिह लोके परत्र च। यस्य विप्राः प्रसीदन्ति शिवो विष्णुश्च सानुगः॥**' (भा० ४। २२। ८) अर्थात् जिससे ब्राह्मणगण तथा अनुचरोंसहित श्रीशिवजी और भगवान् विष्णु प्रसन्न हों, उसे लोक-परलोकमें क्या दुर्लभ है।

प० प० प्र०—***'बिप्र चरन पंकज अति प्रीती'*** भक्ति-सोपानकी नींव है। अतः जिनको भगवत्कृपाकी आकाङ्क्षा हो, उनको विप्र-सेवा करनी चाहिये ***'कपट तजि'*** अर्थात् माया, आशा और विषयासक्तिको छोड़कर।

प्र०—भाव कि गन्धर्व आदि देवताओंकी ब्राह्मण-अपमानसे यह दशा पहुँच जाती है, तब अन्य जीव किस गिनतीमें हैं, इसीसे जान लो कि ब्राह्मणद्रोही हमको नहीं भाता।

सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥ १॥
पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुनगन ग्यान प्रबीना॥ २॥

शब्दार्थ—'**कहंता**'=कहनेवाला। **परुष**=कठोर।

अर्थ—सन्त ऐसा कहते हैं कि शाप देता हुआ, मारता हुआ और कठोर वचन कहनेवाला ब्राह्मण भी पूज्य है*॥ १॥ शील और गुणसे रहित ब्राह्मण पूजनीय है, गुणगण और ज्ञानमें निपुण शूद्र (पूजनीय) नहीं है॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) कबन्धने पहले दुर्वासाका शाप देना कहा था, इसीसे प्रभुने शापसे ही प्रारम्भ किया। फिर ताड़न और परुषवचन बोलनेके सम्बन्धमें कहा। (ख) तीन बातें दोषकी कहीं, उसपर भी विप्रको पूज्य कहा। वे तीनों बातें स्वयं अपने ऊपर बीतीं—नारदने शाप दिया और कठोर वचन कहे; यथा—***'मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे', 'साप सीस धरि हरषि हिय प्रभु बहु बिनती कीन्ह।'*** (१। १३७) भृगुजीने लात मारी तो भी भगवान्ने उनकी प्रतिष्ठा ही की और भृगुचरणचिह्न आजदिन वक्षःस्थलपर धारण किये ब्राह्मण-भक्तिका उदाहरण दे रहे हैं। लात मारनेपर उलटे उनके पैर दबाने लगे कि चोट न लगी हो, मेरी छाती कठोर है, आपके चरण कोमल हैं। यथा—***'उर मनिहार पदिक की शोभा। बिप्रचरन देखत मन लोभा॥'*** (१। १९९। ६) '**विलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं।**' (मं० श्लोक) परशुरामजी कटु वचन कहते गये तब भी यही कहा कि ***'छमहु बिप्र अपराध हमारे', 'कर कुठार आगे यह सीसा॥'***

टिप्पणी—२ (क) ***'पूजिय बिप्र सील गुनहीना………'*** यह कहकर जनाया कि ब्राह्मण जातिसे (जन्मसे) पूजनीय है और शूद्र जातिसे नहीं पूजनीय हैं। इन दोषोंसे वह अपूज्य नहीं हो जाता और न उसे दोषी समझना चाहिये। गुण अर्थात् सम, दम, तप, शौच आदि। (ख) विप्रके संग क्षत्रिय और वैश्यको न कहकर शूद्रको ही कहा। इसका कारण यह है कि शीलगुणहीन होनेसे ब्राह्मण शूद्रतुल्य है, तथापि शूद्रको न पूजे पर शूद्रतुल्य ब्राह्मणको पूजे।

पं० रा० चं० शुक्ल—गोस्वामीजी कट्टर मर्यादावादी थे, यह पहले कहा जा चुका है। मर्यादाका भंग वे लोकके लिये मंगलकारी नहीं समझते थे। मर्यादाका उल्लंघन देखकर ही बलरामजी वरासनपर बैठकर पुराण कहते हुए सूतपर हल लेकर दौड़े थे। शूद्रोंके प्रति यदि धर्म और न्यायका पूर्ण पालन किया जाय,

* यथा—'विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः। घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः॥' (भा० १०। ६४। ४१) अर्थात् मुझको माननेवाले लोग अपराधी ब्राह्मणोंका द्रोह न करें, चाहे वह हमारा नाश ही क्यों न करता हो, वह सदा पूजनीय ही है। (यह श्रीकृष्णजीने अपने कुटुम्बियोंको आज्ञा दी है।)

तो गोस्वामीजी उनके कर्मको ऐसा कष्टप्रद नहीं समझते थे कि उसे छोड़ना आवश्यक हो। यह पहले कहा जा चुका है कि वर्णविभाग केवल कर्मविभाग नहीं है, भावविभाग भी है। श्रद्धा, भक्ति, दया, क्षमा आदि उदात्त वृत्तियोंके नियमित अनुष्ठान और अभ्यासके लिये भी वे समाजमें छोटी-बड़ी श्रेणियोंका विधान आवश्यक समझते थे। इन भावोंके लिये आलम्बन ढूँढ़ना एकदम व्यक्तिके ऊपर ही नहीं छोड़ा गया था। इनके आलम्बनोंकी प्रतिष्ठा समाजने कर दी थी। समाजमें बहुत-से ऐसे अनुन्नत अन्तःकरणके प्राणी होते हैं जो इन आलम्बनोंको नहीं चुन सकते। अतः उन्हें स्थूलरूपसे यह बता दिया गया कि अमुक वर्ग यह कार्य करता है, अतः वह तुम्हारी दयाका पात्र है; अमुक वर्ग इस कार्यके लिये नियत है, अतः वह तुम्हारी श्रद्धाका पात्र है। यदि उच्च वर्गका कोई मनुष्य अपने धर्मसे च्युत है, तो उसकी विगर्हणा उसके शासन और उसके सुधारका भार राज्यके या उसके वर्गके ऊपर है, निम्न वर्गके लोगोंपर नहीं। अतः लोक-मर्यादाकी दृष्टिसे निम्नवर्गके लोगोंका धर्म यही है कि उसपर श्रद्धाका भाव रखें, न रख सकें तो कम-से-कम प्रकट करते रहें। इसे गोस्वामीजीका Social discipline समझिये। इसी भावसे उन्होंने कहा है—***'पूजिय बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुनगन ग्यान प्रबीना॥'*** जिसे कुछ लोग उनका जातीय पक्षपात समझते हैं। जातीय पक्षपातसे उस विरक्त महात्मासे क्या मतलब जो कहता है ***'लोग कहैं पोचु सो सोच न सँकोचु मेरे, ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं॥'*** काकभुशुण्डिकी जन्मान्तरवाली कथाद्वारा गोस्वामीजीने प्रकट कर दिया है कि लोकमर्यादा और शिष्टताके उल्लंघनको वे कितना बुरा समझते थे।

श्रुति प्रतिपादित लोकनीति और समाजके सुखका विधान करनेवाली शिष्टताके ऐसे भारी समर्थक होकर वे अशिष्ट सम्प्रदायोंकी उच्छृङ्खलता, बड़ोंके प्रति उनकी अवज्ञा चुपचाप कैसे देख सकते थे? ब्राह्मण और शूद्र, छोटे और बड़ेके बीच कैसा व्यवहार वे उचित समझते थे, यह चित्रकूटमें वसिष्ठ और निषादके मिलनमें देखिये[अ० २४३ (६) देखिये]। केवट अपनी छोटाईके विचारसे वसिष्ठ ऐसे ऋषीश्वरको दूरसे प्रणाम करता है, पर ऋषि अपने हृदयकी उच्चताका परिचय देकर उसे बार-बार गले लगाते हैं। वह हटता जाता है, ये उसे बरबस भेंटते हैं। इस उच्चतासे किस नीचको द्वेष हो सकता है? यह उच्चता किसे खलनेवाली हो सकती है?

☞दोहा १६ चौ० ६ के लेख भी देखिये।

प० प० प्र०—स्कन्द-पुराणमें इसी विषयपर एक दृष्टान्त दिया है—'**दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न शूद्रो विजितेन्द्रियः। दुष्टां गां तु परित्यज्य कोऽर्चेच्छीलवतीं खरीम्॥**' शास्त्रकारोंने उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ और अधम ब्राह्मणोंके लक्षण दिये भी हैं तथापि उत्तम-मध्यमादि ब्राह्मण अप्राप्य होनेपर (जहाँ शास्त्रमें विप्रपूजा कही हो वहाँ) ब्राह्मणका ही पूजन करना चाहिये, चाहे वह अधम ही क्यों न हो, उसके स्थानमें विजितेन्द्रिय शूद्र नहीं चलेगा। दुष्ट गौको त्यागकर गुणवती, शीलवती रासभी (गदही) का ग्रहण कौन करेगा?

शास्त्र और संत निर्हेतुक उपदेशक होते हैं। अधिकारानुसार वे अधिकारियोंको भिन्न-भिन्न उपदेश देते हैं। श्रीतुकारामजी, श्रीसावंता मालीजी, श्रीगोराकुम्हारजी इत्यादि संत तो ब्राह्मणेतर वर्णके थे। उन्होंने ब्राह्मणोंके हितके लिये उनको भी कड़ी भाषामें उनका हित कर्तव्य बताया है। तथापि अन्य वर्गोंको उनके हितको दृष्टिसे ब्राह्मण पूज्य हैं ऐसा ही उपदेश दिया है।

हम यहाँ शास्त्रका एक ही दृष्टान्त देते हैं—गृहस्थको सूर्यग्रहणमें श्राद्ध करने और ब्राह्मण-भोजन करानेकी आज्ञा है तथापि ब्राह्मणके लिये शास्त्रने यही कहा है कि 'सूर्यग्रहणे श्राद्धान्त' भोजन करना महान् पाप है। दोनोंके हितमार्ग परस्पर विरोधी हैं। फिर भी यदि कोई लोभी ब्राह्मण मिल जाय तो गृहस्थको बड़ा पुण्य प्राप्त होगा। मनुष्यको अपने परम हितका विचार करना चाहिये। दूसरेके अवगुणोंकी चर्चा करनेसे लाभ तो होगा नहीं, हानि ही होगी।

'सूद्र न गुनगन ग्यान प्रबीना।' का अर्थ यह नहीं है कि विद्वान् शूद्रको मान-सम्मान न देना चाहिये और अपमान तो किसी भी जीवका न करना चाहिये। फिर मानसमें ही ***'सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लय लीना॥'*** ***'बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥'*** ऐसे भी

तो वचन बहुत हैं। धर्मभ्रष्ट ब्राह्मणको क्या शिक्षा-दण्ड करना चाहिये यह भी शास्त्रोंने बताया है।

कहि निज धर्म ताहि समुझावा। निज पद प्रीति देखि मन भावा॥ ३॥

रघुपतिचरन कमल सिरु नाई। गयउ गगन आपनि गति पाई॥ ४॥

अर्थ—श्रीरामजीने अपना खास धर्म कहकर उसे समझाया। अपने चरणोंमें उसका प्रेम देखकर वह उनके मनको भाया अर्थात् उसपर वे प्रसन्न हुए॥ ३॥ तदनन्तर श्रीरघुनाथजीके चरण-कमलोंमें माथा नवाकर, अपनी गति पाकर वह आकाशको गया।

टिप्पणी—१ (क) *'निजधर्म'* =ब्रह्मण्यधर्म, द्विजभक्ति। [वा, भागवतधर्म; यथा—*'तब मम धर्म उपज अनुरागा।'* (१६। ७) (प० प० प्र०) अथवा, वर्णाश्रम-धर्म कि छोटेको बड़ेकी बराबरी न करना चाहिये। वा, *'निज निश्चित तत्त्व'* (प्र०) पर यहाँ प्रसंग 'ब्राह्मण पूज्य हैं' इसी धर्मका है और प्रभुने इस धर्मका पालन स्वयं करके दिखाया है, अतः यह उनका 'निजधर्म ब्रह्मण्यदेव' कहलाते भी हैं। भागवत धर्म भी संगत है।] (ख) *'निज पद प्रीति देखि।'* ब्राह्मण-भक्तिका फल हरिपदप्रीति है; यथा—*'भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥ जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरि भगति भवानी॥'* (७। १२६) जब ब्रह्मण्यधर्म कहकर समझाया तब तत्क्षण रामपदप्रीति उत्पन्न हो गयी, उपदेशका फल तुरत लगा हुआ देख प्रसन्न हुए, अतः *'मन भावा'* कहा। यथा—*'सब के बचन प्रेमरस साने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने॥'* (७। ४७) [*'मन भावा'* से यह भी जनाया कि उसका प्रेम कपट छल-छिद्ररहित था और उनका मन निर्मल था; यथा—*'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥'* (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'रघुपतिचरन कमल सिरु नाई।'......'* इति। (क) धर्मोपदेश सुननेके पश्चात् चरणोंमें माथा नवाया, अब स्वर्गको जा रहा है। (ख) चरणदर्शनसे पाप मिटा, यथा—*'प्रभुपद पेखि मिटा सो पापा'*, तब प्रभुके चरणोंमें प्रीति हुई; यथा—*'निजपद प्रीति देखि मन भावा।'* अतः चरणोंमें माथा नवाकर स्वर्गको चला। अथवा, (ग) प्रथम पाप मिटा तब धर्मकी प्राप्ति हुई, यथा—*'कहि निज धर्म ताहि समुझावा।'* धर्मका फल है—रामचरणानुराग; सो प्राप्त हुआ यथा—*'जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।'* तब चरणोंमें माथा नवाया कि इन चरणोंकी प्रीति मेरे हृदयमें सदा रहे।

टिप्पणी—३ *'आपनि गति'* अर्थात् पूर्व गन्धर्व था, वही गन्धर्व हो गया। गोस्वामीजीके वचन बड़े सँभालमें हैं। वाल्मीकिजी पूर्वरूप होना और कोई गन्धर्वरूप होना कहते हैं और अध्यात्ममें परमपद पाना कहा है—**'याहि मे परमं स्थानं योगिगम्यं सनातनम्'** (३। ९। ५५) अतः *'आपनि गति'* कहा।

'बधि कबंध'—प्रसंग समाप्त हुआ।

'सबरी गति दीन्ही'—प्रकरण

ताहि देइ गति राम उदारा। सबरी के आश्रम पगु धारा॥ ५॥

अर्थ—उदार श्रीरामजी उसको गति देकर श्रीशबरीजीके आश्रमको पधारे॥ ५॥

टिप्पणी—१ विराध, शरभंग, खर-दूषणादि १४ सहस्र राक्षसों, मारीच, गीधराज और कबन्ध, इतनोंको गति देते चले आ रहे हैं और अब शबरीजीको गति देने जा रहे हैं। अर्थात् खोज-खोजकर गति देते हैं, अतः 'उदार' विशेषण दिया। यथा—*'देखि दुखी निज धाम पठावा'* (विराध), *'रामकृपा बैकुंठ सिधारा'* (शरभंग) *'राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान'* (खर-दूषणादि), *'मुनिदुर्लभ गति दीन्हि सुजाना'* (मारीच), *'अबिरल भगति माँगि बर गीध गयउ हरिधाम'*, और *'गयउ गगन आपनि गति पाई।'* शबरी गति, यथा—*'तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।'* [जिसने न जाने कितने ऋषियों-मुनियों, पशु-पक्षियों आदिका भक्षण किया और वाल्मीकीयके अनुसार स्वयं इन दोनों भाइयोंको पकड़ा था, उसको कितना कष्ट उठाकर गति दी, (लकड़ियाँ एकत्र की, गड्ढा खोदा, अग्नि प्रकट करके उसको

जलाया); अतः उदार कहा—इस प्रसंगमें केवल ऐश्वर्य-भाव ही प्रधान है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'पगु धारा'*=पधारे। यह मुहावरा आदर सूचित करता है। इसका प्रयोग मानसमें बड़े लोगों (गुरूजनों) के आगमनके समय किया गया है, यथा—*'भयेउ समय अब धारिय पाऊ।'* (१। ३१३। ७) *'सब समेत पुर धारिय पाऊ।'* (२। २४८। ७) *'पुर पग धारिय देइ असीसा।'* (२। ३१९। ३) *'धन्य भूमि बन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाउँ तुम्ह धारा॥'* (२। १३६। १) इत्यादि। तथा यहाँ *'सबरीके आश्रम पगु धारा।'*

टिप्पणी—३ आश्रम मुनियोंके तथा भगवद्भक्तोंके स्थानको कहते हैं। शबरीजी परम भागवता हैं, यथा—*'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।'* अतएव सभी वक्तालोग शबरीके निवासस्थानको 'आश्रम' कह रहे है। और, शबरीजी अपनेको अधम, कुजाति आदि समझती और कहती हैं, अपनी कुटीको घर कहती हैं, जैसे कोल-किरातोंके घर वनमें होते हैं तो भी वे कुटी या आश्रम नहीं कहलाते, वैसे ही ये अपनी कुटीको मानती हैं।

नोट—१ यह मान श्रीशबरीजीको वाल्मीकि और अध्यात्मरमायणमें दिया गया है, यथा—'**अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम्।**' (वाल्मी० ३। ७४। ४) '**शनैरथाश्रमपदं शबर्या रघुनन्दनः।**' (अ० रा० ३। १०। ४) यह आश्रम भी श्रीमतङ्गऋषिके आश्रममें ही जान पड़ता है या उन्हींका आश्रम है, जिसमें अब शबरीजी रह रही हैं, जैसा कबन्धके वचनसे सिद्ध होता है। यथा—'**तेषां गतानामद्यापि दृश्यते परिचारिणी। श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी॥ त्वां तु धर्मे स्थिता नित्यं सर्वभूतनमस्कृतम्। दृष्ट्वा देवोपमं राम स्वर्गलोकं गमिष्यति॥**' (वाल्मी० ३। ७३। २६-२७) अर्थात् वे ऋषि तो चले गये, पर उनकी सेवा करनेवाली दीर्घजीवी शबरी नामकी संन्यासिनी आज भी वहाँ है। सब प्राणियोंद्वारा नमस्कृत देवतुल्य शबरी आपका दर्शन करके स्वर्गको जायगी।

सबरी देखि राम गृह आए। मुनि के बचन समुझि जिय भाए॥६॥
सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥७॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥८॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥९॥

शब्दार्थ—'**जिय भाए**'=मन प्रसन्न हो गया, यथा—*'निजपद प्रीति देखि मन भाए।'* '*समुझि*'=विचार कर, याद करके।

अर्थ—श्रीरामजीको घरमें आये हुए देख श्रीमतंग मुनिके वचन स्मरणकर श्रीशबरीजी मनमें प्रसन्न हुईं॥ ६॥ कमलनयन, विशालभुजा (आजानुबाहु), सिरपर जटाओंका मुकुट और हृदय (वक्षःस्थल) पर वनमाला धारण किये हुए सुन्दर साँवले और गोरे दोनों भाइयोंके चरणोंमें शबरीजी लिपट पड़ीं॥ ७-८॥ वे प्रेममें डूबी हैं उनके मुँहसे वचन नहीं निकलता, बार-बार चरणकमलोंमें सिर नवा रही हैं॥ ९॥

टिप्पणी—१ *'मुनिके बचन समुझि जिय भाए।'* श्रीमतङ्गजीने कहा था कि तुम इसी आश्रममें रहो, तुम्हें रामदर्शन होगा। उन्हीं बचनोंका स्मरण करके कृतकृत्य हो रही हैं, श्रीरामजीका आगमन अपने पुण्यप्रभावसे नहीं मान रही हैं, सोचती हैं कि मेरे ऐसे पुण्य कहाँ! यह तो मुनिके आशीर्वचनका प्रभाव है।

नोट—१ वाल्मी० रा० के—'**अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव सन्दर्शनान्मया। अद्य मे सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः॥ अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति। त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ॥ तवाहं चक्षुषा सौम्य पूता सौम्येन मानद। गमिष्याम्यक्षयाँल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिन्दम॥ चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः। इतस्ते दिवमारूढा यानहं पर्यचारिषम्॥ तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः। आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम्॥ स ते प्रतिग्रहीतव्यः सौमित्रिसहितोऽतिथिः। तं च दृष्ट्वा वराँल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि॥ (एवमुक्ता महाभागैस्तदाहं पुरुषर्षभ।) मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ॥**' (वाल्मी० ७४। ११—१७) अर्थात् 'श्रीशबरीजीसे कुशल प्रश्न करनेपर उन्होंने यह उत्तर दिया है—आपके दर्शनसे आज मैंने तपस्याकी सिद्धि पायी, मेरा जन्म

सुफल हुआ, गुरुपूजा सफल हुई, आपके कृपावलोकनसे मैं पवित्र हो गयी, आपके प्रसादसे मैं अक्षय लोकोंको जाऊँगी, जिन ऋषियोंकी मैं सेवा करती थी, वे आपके चित्रकूटमें आनेपर, स्वर्गको चले गये। उन महर्षियोंने मुझसे कहा था कि श्रीरामचन्द्रजी इस पवित्र आश्रममें आवेंगे। लक्ष्मणसहित उनका आतिथ्य-सत्कार करना। उनके दर्शनसे तुम अक्षय श्रेष्ठ लोकको प्राप्त होगी। उसी दिनसे मैंने आपके लिये अनेक जंगली फल संचित कर रखे हैं।' ☞ इन वचनोंसे महर्षि मतङ्गजीकी परमधामयात्रा श्रीरामजीके चित्रकूटागमनके पश्चात् सिद्ध होती है। टीकाकारोंने दस हजार वर्ष पूर्व महर्षिका परलोकगमन लिखा है।

टिप्पणी—२ *'सरसिज लोचन बाहु बिसाला'*……' इति। प्रभुने शबरीजीको शृङ्गाररूपसे दर्शन दिये। विश्वामित्रजीके साथ जाते समय वीररूप कहा और विभीषणजीके मिलापमें भी वीररूप कहा—इन दोनोंमें वीररूपका ही काम था, क्योंकि दोनों शत्रुओंसे पीड़ित थे। स्त्रियोंको शृङ्गाररूपकी ही भावना प्रायः रहती है, अतः यहाँ शृङ्गाररूप कहा गया। [लोचनसे शृङ्गार जब शुरू होता है, तो वह शृङ्गार-भावना जरूर सूचित करता है।—(दीनजी)]

खर्रा—*'उर बनमाला'* इति। वनमालामें तुलसी भी होती है, यथा—*'सुंदर पट पीत बिसद भ्राजत उरसि तुलसिका प्रसून रचित बिबिध बिध बनाई'*—(गी०)। इसके पूर्व वनमें कहीं वनमालाका वर्णन नहीं किया गया। जान पड़ता है कि मुनियोंने पहनाया है। इसे दिखाकर शबरीजीको जनाते हैं कि तुम सोच न करो, हमने तो दैत्य (जलंधर) की स्त्रीको पावन करके धारण किया है (फिर तुम्हें क्यों न धारण करेंगे)। यहाँके ध्यानमें धनुष-बाण आदि नहीं कहे गये क्योंकि शबरीजी वीररसकी उपासिका नहीं हैं।

नोट—२ गीतावलीसे स्पष्ट है कि श्रीशबरीजी वात्सल्यरसकी उपासक थीं। यथा—*'सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भायके॥' 'अति प्रीति मानस राखि रामहि रामधामहि सो गई। तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल अंजलि दई॥'* (आ० पद १७) 'वनमाला', यथा—'तुलसीकुन्दमंदारपारिजातसरोरुहैः। पंचभिर्ग्रथिता माला वनमाला विभूषिता॥' दोहा—*'तुलसी अरु मंदार पुनि पारिजात एक होय। कुन्द कमल ग्रंथित जहाँ बनमाला कहि सोय॥'*

श्रीमनु-शतरूपाजीके सामने जब श्रीसीतारामजी प्रकट हुए, तब भी वनमाला पहने थे—*'उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला।'* (१। १४७। ६) और श्रीकौसल्याजीके सामने जब सूतिकागारमें प्रकट हुए तब भी वनमाल पहने थे; यथा—*'भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी।'* (१। १९२) श्रीशतरूपाजी तथा श्रीकौसल्याजीका भी वात्सल्यभाव था। माताएँ मुखारविन्द देखा करती हैं, बच्चोंका शृङ्गार उनको प्रिय लगता है। अतः उसी भावसे श्रीशबरीजी दोनों भाइयोंका छबिसिंधु मुखारविन्द देख रही हैं। फिर इतना ही नहीं, श्रीशबरीजीको इनके ऐश्वर्यका ज्ञान है, यह मानसके इस प्रसंगभरसे स्पष्ट है और वाल्मीकीयके पूर्वोक्त उद्धरणसे भी; अतः वे अपना परम भाग्य मानकर प्रेममें मग्न हैं।

टिप्पणी—३ *'सबरी परी चरन लपटाई'* इति। प्रेमकी विह्वलतासे चरणोंमें लपटना कहा। यथा—*'जाइ जननि उर पुनि लपटानी।'* (१। १०२) (पार्वतीजी), *'बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी॥'* (२। ५७। ६) (कौसल्याजी), तथा यहाँ *'सबरी परी चरन लपटाई।'*

टिप्पणी—४ *'प्रेम मगन मुख बचन न आवा'*……' इति। *'प्रेम मगन'* यह मनकी दशा है, *'बचन न आवा'* वचन और *'पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा'* यह तनकी दशा है। 'मन, वचन, कर्म तीनोंसे प्रेममें डूबी हुई हैं। (ख) *'पुनि पुनि सिर नावा'* यहाँ प्रेमके मारे; यथा—*'देखि राम छबि अति अनुरागीं। प्रेम बिबस पुनि पुनि पग लागीं॥'* (१। ३३६। १) *'तब मुनि हृदय धीर धरि गहि पद बारहि बार।'* (१०) *'बारबार नावइ पद सीसा। प्रभुहि……।'* (४। ७) ये सब प्रेमकी दशाएँ हैं; यथा—*'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा॥'* (२। २४२) (प्र०)

प० प० प्र०—शबरीका मन प्रेममें डूब गया। अपने युगल कमल-नयनोंके प्रेमजलसे चरणोंको नहला रही हैं। उठ नहीं सकतीं, शरीर शिथिल है, अतः पुनः-पुनः चरणोंपर अपना सिर-सरोज रखती हैं। यह क्रम चल रहा है। सरोजको सिरका ही विशेषण लेना उचित है। मानों सिररूपी कमलको चढ़ाकर बार-

बार पूजा कर रही हैं। *'पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा।'*—इस भावसे कि *'मोतें होइ न प्रत्युपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥'*

सादर जल लै चरनि पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे॥ १०॥

दोहा—कंदमूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।

प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥ ३४॥

अर्थ—फिर शबरीजीने आदरपूर्वक जल लेकर (दोनोंके) चरण धोये। फिर सुन्दर आसनपर उनको बिठाया॥ १०॥ अत्यन्त रसीले और स्वादिष्ट कन्दमूल फल लाकर श्रीरामजीको दिये। प्रभुने बारम्बार उनकी प्रशंसा करते हुए प्रेमपूर्वक उन्हें खाया॥ ३४॥

नोट—१ *'सादर·········चरन पखारे'* इति। सादर अर्थात् श्रद्धा-भक्तिपूर्वक परात आदि किसी बर्तनमें चरण रखकर प्रेमसे पुलकित-शरीर होकर इत्यादि रीतिसे चरण धोये, चरणोदकको पान किया, शरीरपर छिड़का इत्यादि सब कृत्य इस शब्दसे जना दिये। यथा **'रामलक्ष्मणयोः सम्यक् पादौ प्रक्षाल्य भक्तितः। तज्जलेनाभिषिच्याङ्गम्**·········' (अ० रा० ३। १०। ७)*'लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली।'* (१। ३२४ छंद) ऐसे प्रेमसे चरण धोये कि आज प्रभुका पंथश्रम जाता रहा, यथा *'पद पंकजात पखारि पूजे पथ श्रम बिरहित भए।'* (गी० ३। १७) अभी दोनों भाई खड़े ही हैं, यह चरण प्रक्षालन आदि खड़े ही समयका व्यवहार है।

प० प० प्र०—१ अभीतक दोनों भाई खड़े ही हैं, यह प्रेम-मग्न होनेसे जाना भी न गया। यह स्थिति कितनी श्लाघनीय है। यहाँ केवल 'चरन' शब्द है, पंकज आदि विशेषण नहीं है। आगे भी *'बार-बार प्रभु पद सिरु नाई।'* (३६। १३) कहा है। शबरी भीलिनी थी, मुनियोंकी सेवा करती थी, इससे उसके करोंका कोमल होना असंभव था, कठोर हाथोंसे कोमल चरणको धोनेकी बात सुनकर उपसकोंको दुःख होता, इसीसे प्रभुके चरणोंको कमल न कहा। चरण शब्दसे दिखाया कि घूमते-घूमते पैरोंमें घट्ठे पड़ गये थे। हाँ, जब शबरीजी हृदयमें धारण करती हैं तब 'पंकज' विशेषण देते हैं, क्योंकि हृदय भी कोमल है, उसमें कोमल चरणोंको रखा है—*'हृदय पद पंकज धरे।'* [गीतावलीमें *'आश्रम लै दिए आसन पंकज पाय पखारि॥ पदपंकजात पखारि पूजे पंथ श्रम बिरहित भए।'* (३। १७) ऐसा कहा है।]

नोट—२ *'सुंदर आसन'*—पुष्प आदिका वा अन्य पवित्र सुन्दर आसन। (पं० रा० कु०) स्मरण रहे कि यह वसंतऋतुका समय है। शबरीजी प्रतिदिन भगवान्‌के लिये सुन्दर सुगंधित वन-पुष्पों तथा कोमलतरु पल्लवोंसे रमणीय, मनोहर, मृदु आसन रचकर रखती थीं, जिनसे सुगंध निकला करती थी, इन आसनोंपर बिठाया। इसीसे *'बैठारे'* कहा, आसन लाकर दिये ऐसा न कहा। भाव कि जहाँ ऐसे आसन रचकर रखे थे, वहाँ ले जाकर बैठाया। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ *'कंदमूल फल सुरस अति०'* इति। *'सुरस अति'* का भाव कि सुरस तो सभी मुनियोंके कन्दमूलफल थे, पर इनके अत्यन्त सुरस हैं, इससे इनके प्रेमको भी अति सरस जनाया। यथा—*'जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई॥······घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जब पहुनाई। तब तब कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई॥'* (वि० १६४) जो रस इनमें है उसके जानकार भी प्रभु ही थे। इसीलिये ऋषियोंके फलोंका बखान न करके शबरीके फलोंकी प्रशंसा सर्वत्र की है।

टिप्पणी—२ *'प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि।'* भाव कि फलोंकी मिठाई प्रधान नहीं है, प्रधान है यहाँ प्रेमकी मिठाई जो फलोंमें आ गयी है। *'बारंबार'* अर्थात् जितने बार मुखमें ग्रास लेते हैं कम-से-कम उतनी बार तो अवश्य ही प्रशंसा करते हैं। भोजनकी प्रशंसा करनेका निषेध भारतमें किया गया है? पर यहाँ तो प्रेम है, प्रेममें नेम नहीं रह जाता। अथवा, यहाँ इसीसे *'प्रभु'* पद दिया कि

वे तो समर्थ हैं और *'समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं।'* वे ईश्वर हैं, दोष जीवोंके लिये है। शबरीके फलोंकी प्रशंसा श्रीरघुनाथजीने अवध-मिथिलामें भी की; यथा—*'घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे०,'* क्योंकि प्रेम ही प्रेम है।

नोट—३ कुछ महात्माओंका मत है कि लक्ष्मणजीने फल नहीं खाये और यहाँ भी कुछ स्पष्ट नहीं लिखा है कि लक्ष्मणजीने भी खाये। अन्य स्थानोंमें खानेका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—(क) निषादराजके यहाँ *'सिय सुमंत्र भ्राता सहित कंदमूल फल खाइ।'* (२। ८९) (ख) भरद्वाज मुनिके यहाँ *'सीय लषन जन सहित सुहाये। अति रुचि राम मूल फल खाए॥'* (२। १०७। ३) और, (ग) वाल्मीकिजीके यहाँ भी *'सिय सौमित्रि राम फल खाए।'* (२। १२५। ४) स्पष्ट लिखा गया है। यहाँ स्पष्ट न लिखनेका कारण यह है कि अध्यात्ममें लक्ष्मणजीको १२ वर्ष भोजन न करना कहा है। (खर्रा) परन्तु गीतावलीमें दोनोंका खाना लिखा है; यथा—*'केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि माँगि प्रभु खात.........बालक सुमित्रा कौसिलाके पाहुने फल भाग के। सुनु समुझु तुलसी जानु रामहिं बस अमल अनुराग के।'* (गीतावलीका यह पूरा पद पढ़ने योग्य है। अतः उसे आगे उद्धृत किया जाता है।)

इस तरह यहाँ *'दिये राम कहुँ आनि'*, *'प्रभु खाए बारंबार बखानि'* मात्र कहकर मानसकविने सब ऋषियोंके मतोंकी रक्षा कर दी है। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका भी मत यही है कि वाल्मीकिजीके आश्रमपर फल खानेके पश्चात् फिर कहीं लक्ष्मणजीका फल खाना न लिखकर जनाया गया है कि तत्पश्चात् उन्होंने फल भी खाना छोड़ दिया। इसीसे अत्रिके आश्रममें भी *'दिये मूल फल प्रभु मन भाए।'* (३। ३। ८) कहा है, लक्ष्मणजीका नाम नहीं लिया गया। (यह भाव लङ्काकाण्डमें मेघनादके प्रसङ्गमें प्र० सं० में दिया गया है।) इसीसे जान-बूझकर लक्ष्मणजीका नाम नहीं रखा गया है। विश्वामित्रने बला और अतिबला विद्या दोनों भाइयोंको दी ही थीं।—*'जाते लाग न छुधा पिपासा।'*

'सबरी सोइ उठी फरकत बाम बिलोचन बाहु। सगुन सुहावने सूचत मुनि मन अगम उछाहु॥
मुनि अगम उर आनंदलोचन सजल तनु पुलकावली। तृनपर्नसाल बनाइ, जल भरि कलस, फल चाहन चली॥
मंजुल मनोरथ करति, सुमिरति बिप्रबर बानी भली। ज्यों कल्पबेलि सकेलि सुकृत सुफूल फूली सुखफली॥ १॥
प्रानप्रिय पाहुने ऐहैं राम लषन मेरे आजु। जानत जन जिय की मृदु चित राम गरीबनिवाजु॥
मृदु चित गरीबनिवाज आजु बिराजिहैं गृह आइकै। ब्रह्मादि संकर गौरि पूजित पूजिहौं अब जाइकै॥
लहि नाथ हौं रघुनाथ बानो पतितपावन पाइकै। दुहुँ ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइकै॥ २॥
दोना रुचिर रचे पूरन कंद मूल फल फूल। अनुपम अमियहु तें अंबक अवलोकत अनुकूल॥
अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंभ हित सब आनि कै। सुंदर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानि कै॥
छन भवन छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानि कै। दोउ भाइ आये सबरिका के प्रेमपन पहिचानि कै॥ ३॥
स्त्रवन सुनत चली आवत देखि लषन रघुराउ। सिथिल सनेह कहे है सपना बिधि कैधौं सतिभाउ॥
सति भाउ कै सपनो? निहारि कुमार कोसलराय के। गहे चरन जे अघहरन नतजन बचन मानस कायके॥
लघुभागभाजन उदधि उमग्यो लाभसुख चित चाय कै। सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय कै॥ ४॥
प्रेम पट पाँवड़े देत सुअरघ बिलोचन बारि। आस्त्रम लै दिए आसन पंकज पायँ पखारि॥
पद पंकजात पखारि पूजे पंथ श्रम बिरहित भए। फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दोना नए॥
प्रभु खात पुलकित गात स्वाद सराहि आदर जनु जये। फल चारिहू फल चारि दहि पर चारि फल सबरी दये॥ ५॥
सुमन बरसि हरषे सुर, मुनि मुदित सराहि सिहात। केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि माँगि प्रभु खात॥
प्रभु खात माँगत देत सबरी राम भोगी जाग के। पुलकत प्रसंसत सिद्ध सिव सनकादि भाजन भाग के॥
बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल साग के। सुनु समुझि तुलसी जानु रामहि बस अमल अनुराग के॥ ६॥
रघुबर अँचइ उठे सबरी करि प्रनाम कर जोरि। हौं बलि बलि गई पुरई मंजु मनोरथ मोरि॥
पुरई मनोरथ स्वारथहु परमारथहु पूरन करी। अघ अवगुनन्हि की कोठरी करि कृपा मुद मंगल भरी॥
तापस किराततिनि कोल मृदु मूरति मनोहर मन धरी। सिर नाइ आयसु पाइ गवने परमनिधि पाले परी॥ ७॥

**सिय सुधि सब कही नखसिख निरखि निरखि दोउ भाइ। दै दै प्रदच्छिना करति प्रनाम न प्रेम अघाइ॥
अति प्रीति मानस राखि रामहि रामधामहि सो गई। तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल अंजलि दई॥
तुलसी भनित सबरी प्रनति रघुबर प्रकृति करुनामयी। गावत सुनत समुझत भगति हिय होइ प्रभुपद नित नई॥८॥**
(गीतावली ३। १७)

नोट—४ वाल्मीकि, अध्यात्म और मानसमें कहीं जूठे फलोंका खाना नहीं लिखा है, पर भक्तमालमें जूठे फलोंका खाना कहा है, यथा—*'ल्यावै बन बेर लागी रामकी औसेर फल चाखे धरि राखे फिरि मीठे उन्हीं योग हैं। मारगमें रहे जाइ लोचन बिछाइ कभू आवें रघुराई दृग पावैं निज भोग हैं॥'* (भक्तिरसबोधिनी टीका क० ३५) कुछ लोगोंका मत है कि वृक्षका एक बेर लेकर चखती थीं, यदि वह मीठा होता तो उसीके बेर लेकर रख लेती थीं और वही प्रभुको खिलाये। जूठेमें यह आपत्ति है कि मर्यादापुरुषोत्तम ऐसा न करते। यह कहना भी उचित ही है, पर साथ ही यह भी है कि शबरीजी इनको राजकुमार नहीं समझती थीं, भगवान् ही समझती थीं—यह सभी रामायणोंसे सिद्ध है और भगवान् प्रेमके भूखे हैं, उनके लिये क्या जूठा क्या अनूठा। प्रेमी ही इस बातको समझ सकता है दूसरा नहीं। दूसरे, इसका उत्तर क्या है कि 'जिस हाथसे बेर खाया, उसी जूठे हाथसे फिर तोड़े तब ये फल भगवान्‌के योग्य रहे? क्या वे भी जूठे नहीं तो अनूठे कहलायेंगे? क्या शबरी बार-बार वनमें हाथ धोनेके लिये जल लिये रहती थीं? कदापि नहीं। इस प्रश्नका उत्तर प्रेमियोंको क्या दिया जायगा। हमारी समझमें नहीं आता। यह कहना पड़ता है कि यह (प्रेम) गली कुछ और ही है। आज भी जहाँ कट्टर कर्मकाण्डी उपासक भगवान्‌को बिना चखे भोग लगाते हैं, वहाँ हम देखते हैं कि प्रेमी बिना चखे कभी प्रभुको कोई पदार्थ अर्पण नहीं करते, यद्यपि लोकव्यवहारमें तो किञ्चित् भी चख लेनेसे वह पदार्थ भगवान्‌के योग्य नहीं समझा जाता। प्रेम-पन्थमें अधर्म भी धर्ममें गिना जाता है, जैसे वसुदेवजीने कंससे प्रतिज्ञा की थी कि सब लड़के दे देंगे पर प्रतिज्ञा छोड़ नन्दजीके यहाँ कृष्णजीको पहुँचा दिया। यह अधर्म भी धर्म ही माना जायगा। कहा जाता है कि पद्मपुराणमें लिखा है कि शबरी बेरोंकी परीक्षा लेकर मीठे बेर रखती थी। पुनः, यथा—**'प्रेम्णावशिष्टमुच्छिष्टं भुक्त्वा फलचतुष्टयम्। कृता रामेण भक्तानां शबरी कबरीमणिः॥'** **'फलमूलं समादाय परीक्ष्य परिभक्ष्य च। पश्चान्निवेदयामास राघवाय महात्मने॥'** अर्थात् 'प्रेमसे अवशिष्ट जूठे चार फलोंको भोजन करके श्रीरघुनाथजीने शबरीको भक्तोंकी चूड़ामणि बना दी। 'फल और मूल लाकर और खाकर उनकी परीक्षा करके तदनन्तर रघुपतिजीको निवेदन किया।' कोई-कोई कहते हैं कि पद्म पु० में ऐसा नहीं है।

☞ गोस्वामीजी इस ग्रन्थमें सब ऋषियोंकी मर्यादा सर्वत्र रखते चले आये हैं। इससे उन्होंने इस विषयमें **'सुरस'** पद देकर जूठेका भी भाव गुप्त रीतिसे दरसा दिया है। प्रभुमें शबरीजीका वात्सल्य भाव था, जैसा गीतावलीसे स्पष्ट है। इस भावसे तो जूठे फल खिलानेमें कोई आपत्ति ही नहीं रह जाती। फिर आगे प्रभु स्वयं उससे कहते हैं कि मैं तो केवल भक्तिका नाता मानता हूँ, मुझे जाति-पाँतिसे किसीके सरोकार नहीं है।

**पानि जोरि आगे भइ ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥१॥
केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़ मति भारी॥२॥
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥३॥**

अर्थ—फिर वे हाथ जोड़कर आगे खड़ी हुईं। प्रभुको देखकर शबरीजीका प्रेम अत्यन्त बढ़ गया॥१॥ मैं किस प्रकार आपकी स्तुति करूँ। मैं अधम जातिकी हूँ, बड़ी ही जड़बुद्धि (मूढ़) हूँ॥२॥ हे अघारी (पापके शत्रु, पापके नाशक)! जो अधमसे-अधममें भी अत्यन्त अधम स्त्रियाँ हैं, उनमें भी मैं मन्दबुद्धि हूँ॥३॥

टिप्पणी—१ *'पानि जोरि आगे भइ ठाढ़ी।* ·····' (क) 'खड़ी हुई' से जनाया कि बैठे-बैठे खिला रही थी। जब वे भोजन कर चुके, तब हाथ जोड़कर खड़ी हुई। अबतक चित्तकी वृत्ति पूजा करने, भोजन करानेमें लगी रही। (ख) प्रभुको देखकर प्रीति अत्यन्त बढ़ी तो अर्थात् बढ़ी तो पूर्वसे ही थी, अब चित्तकी वृत्ति

केवल दर्शनमें लगी; इससे वह प्रीति और भी अधिक बढ़ गयी। पुनः, भाव कि शबरी नहीं खड़ी हुई वरन् प्रभुको देखकर मानो मूर्तिमान् प्रीति आकर बढ़ी है (बढ़ आयी है)। (ग) पूजाके बाद स्तुति चाहिये, उसपर कहती हैं कि किस प्रकार करूँ? स्तुति करनेकी सामर्थ्य विद्या पढ़नेसे होती है और मैं अधम हूँ, विद्या पढ़नेका मुझे अधिकार नहीं और बुद्धि जड़ ही नहीं किंतु भारी जड़ है। [भाव कि आप अपनी कृपासे ही प्रसन्न हों, यथा—'**स्तोतुं न जाने देवेश किं करोमि प्रसीद मे।**' (अ० रा० ३। १०। १९) ब्रह्मादिक समर्थ नहीं हैं तब मैं तो अवगुणोंसे भरी हुई हूँ, कैसे स्तुति करनेको समर्थ हो सकूँ? (प्र०) भाव कि आपकी महिमा अमित है और मेरी बुद्धि अत्यन्त क्षुद्र है।] '***भारी जड़***' का भाव कि प्राय: स्त्रियोंकी बुद्धि जड़ होती है, यथा—'***अबला अबल सहज जड़ जाती***' और मेरी तो सबसे अधिक जड़बुद्धि है और मैं भारी जड़ हूँ।

टिप्पणी—२ '***अधम ते अधम अधम अति नारी।*********' इति। (क) जातिसे अधम पहले कह चुकीं। भीलकी जाति अधम कही गयी है; यथा—'***जासु छाँह छुइ लेइय सींचा***', '***जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥***' (७। १००) अब कहती हैं कि मैं अधमसे भी अधम हूँ अर्थात् अपनी जातिमें भी भ्रष्ट हूँ, यथा—'***जातिहीन अघजन्म महि*********'। पुनः, (ख) स्त्री हूँ अत: अति अधम हूँ। '***अति***' का आशय यह है कि स्त्रियाँ स्वभावसे अधम मानी जाती हैं, मैं सब स्त्रियोंसे बढ़कर अधम हूँ और सब स्त्रियाँ मंद, मैं 'अति मंद' ('अति मंद' पाठ पं० रामकुमारजीने रखा है और काशीकी प्रतिमें भी है)। उत्तरोत्तर अपकर्ष वर्णन 'सार अलङ्कार' है।

खर्रा—'***अधम ते अधम*********' ब्राह्मणकी अपेक्षा क्षत्रिय, क्षत्रियकी अपेक्षा वैश्य और वैश्यकी अपेक्षा शूद्र अधम हैं। शूद्र और नारी एक समान हैं, इससे दोनोंको समीप ही कहा। उन स्त्रियोंमें भी मैं अति मंद हूँ। वा ब्राह्मणकी स्त्री शूद्र तुल्य, क्षत्रियकी उससे अधम और क्षत्रियसे वैश्यकी अधिक अधम है। शूद्रकी स्त्री सबसे अधम है और मेरी जाति तो वर्णसंकर है, अतएव मैं 'अति अधम' हूँ।*

टिप्पणी—३ '***अघारी***' =अघके शत्रु, पापोंके नाश करनेवाले। भाव कि मैं पापिनी हूँ और आप पापके नाशक एवं निष्पाप हैं; यथा—'***मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन पाहि पाहि सरनहि आई***' (अहल्यावाक्य)। मैं आपके सामने होने योग्य नहीं हूँ पर आपका जगपावन गुण समझकर शरण हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। [***अघारी*** =अघी। जैसे ***सुखारी*** =सुखी।—(प० प० प्र०)]

नोट—१ भगवान्के नाम, रूप, लीला, धाम सभी अघनाशक हैं, यथा—'***जासु नाम पावक अघतूला***', '***सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहि तबहीं***', '***मन क्रम बचन जनित अघ जाई। जो एहि सुनै श्रवन मन लाई***' और '***देखत पुरी अखिल अघ भागा॥***'

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानौं एक भगति कर नाता॥ ४॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥ ५॥
भगतिहीन नर सोहै कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥ ६॥

शब्दार्थ—पाँति=पङ्क्ति, एक साथ भोजन करनेवाले बिरादरीके लोग; परिवारसमूह; यथा—'***मेरे जाति पाँति न चहौं काहूकी जाति पाँति मेरे कोऊ कामको न हौं काहूके कामको***'—(क० ७। १०७)

अर्थ—रघुनाथजी बोले—हे भामिनि! मेरी बात सुनो। मैं तो मात्र एक भक्तिका ही सम्बन्ध मानता हूँ॥ ४॥ जाति-पाँति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, कुटुम्ब, गुण, चतुरता, इनके होते हुए भी भक्तिसे रहित मनुष्य कैसा सोहता है जैसा बिना जलका मेघ (शोभाहीन) देख पड़ता है॥ ५-६॥

प० प० प्र०—'***कह रघुपति सुनु भामिनि*********' इति। (क) '***रघुपति***' —भाव कि इतने बड़े होनेपर

---

*वन्दन पाठकजी—यथा—'आभीराः कुम्भणोध्राः कैवर्त्ता नापितस्तथा। पञ्च शूद्राः प्रशंस्यन्ते षष्ठोऽपि द्विजसेवकः॥ रजकश्चर्मकारश्च नटो कुरट एव च। कैवर्त्तभेदभिल्लाश्च सप्तैते ह्यन्तजाः स्मृताः॥ ब्राह्मणात्क्षत्रिया नीचाः क्षत्र्याद्वैश्यास्ततोऽङ्घ्रिजाः। सप्तान्यन्त्यजा नीचाः न नीचो यवनात्परः॥' (१—३) (पाराशरीस्मृति)

भी जिस शब्दसे सीताजीको सम्बोधित किया है, वही शब्द भीलनीके लिये प्रयुक्त किया। यथा—*'सब बिधि भामिनि भवन भलाई।'* (२। ६१। ४) (ख) *'सुनु'* —एकवचनका प्रयोग या तो अत्यन्त प्रेमका निदर्शक होता है या हीनताका। जब प्रभुमें दीनदासोंका प्रेम उमड़ता है तब वे एकवचनका प्रयोग करते हैं। यथा—*'परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥'* (११। २३), *'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।'* (५। ३२), *'कहु कपि रावन पालित लंका।'* (५। ३३), *'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा॥', 'सुनि मुनि कह पुरान श्रुति संता', 'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ'* (नारदप्रति दोहा ४३—४५) (ग) *'भामिनि'* का अर्थ यहाँ है दीप्तिमती, अत्यन्त सुन्दर। तीन बार यह सम्बोधन इस प्रसंगमें आया है। इसपर प्रश्न होगा—क्या शबरी शरीर-सौन्दर्ययुक्त थी? क्या शरीर-सौन्दर्यको लक्षित करके *'भामिनि'* सम्बोधन किया गया है? उत्तर है—'कदापि नहीं। स्वप्नमें भी नहीं।' समाधानके लिये *'मानौं एक भगति कर नाता।'* और *'भगतिहीन नर सोहै कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥'* ये श्रीमुखवचन ही पर्याप्त हैं। जिसमें प्रेमभक्तिकी रमणीयता है, वह कुरूप होनेपर भी भगवान्‌की दृष्टिमें सुन्दर और शोभाधाम है। भक्तिविहीनशरीर-सौन्दर्य कुरूपता है। (घ) सब नाते मायाजनित और मिथ्या हैं। भक्ति भगवान्‌का स्वरूप ही है। भक्तिको रस कहा गया है **'प्रभुपद** ***रति रस बेद बखाना।'***, **'रसो वै सः।'** इसीसे भक्त, भक्ति, भगवान्, नाम, महिमा, भगवद्‌गुण इन सबोंका सम्पूर्ण, अभेद्य, शाश्वत परमैक्य है। **'मुक्तोऽहम्'** अहंकारके विनाशके लिये भक्तिरसायन एक ही अक्सीर दवा है।

टिप्पणी—१ *'मानौं एक भगति कर नाता'* अर्थात् भक्ति छोड़ मैं और कोई भी नाता नहीं मानता, यथा—*'जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई॥'* (वि० १६४) कौन नाते हैं जिनको नहीं मानते? प्रभु स्वयं आगे उन्हें गिनाते हैं—*'जाति पाँति……'*।

रणबहादुरसिंहजी—(शाण्डिल्यसूत्र १३) 'दृष्टत्वाच्च'। अर्थ—प्रत्यक्ष देखनेमें भी भक्ति ही मुख्य प्रतीत होती है। संसारमें ऐसे बहुत-से प्रत्यक्ष उदाहरण दिख रहे हैं जिनमें भक्तिहीका नितान्त प्राधान्य अनुमित होता है, ज्ञानादिकी प्रधानता पूर्णतः नहीं पायी जाती। जैसे पूर्णज्ञानके अतिरिक्त भी कौमारावस्थामें ध्रुवजीको परमेश्वरकी प्राप्ति हुई, उसमें केवल दृढ़ प्रेमरूपा भक्ति ही कारण थी। इसी भाँति अनेक भक्तोंको पूर्ण ज्ञानके बिना भी केवल दृढ़ प्रेमरूपा भक्तिसे ईश्वरकी प्राप्ति हुई, देखो व्याध कौन-सा ज्ञानवान् था? वाल्मीकिजी पहले कौनसे विज्ञानी थे? ये सब पूर्वके दृष्टान्त हैं। इसके पश्चात् थोड़े दिनके प्रसिद्ध भक्त रैदासजी, कर्माबाईजी, सदनजी, धनाजी, नामदेवजी आदि अनेक भक्त हुए, उनमें कौनसे विद्यावान् अथवा ज्ञानी थे? इसमें विद्या-ज्ञानादि कुछ भी नहीं। उच्च-नीच किसी भी जातिमें हो, पर जिसने दृढ़ प्रेमसे ईश्वरकी भक्ति की है उसको ईश्वरकी प्राप्ति हुई है। वर्तमान समयमें भी अनुसन्धान करनेसे ऐसे भक्त मिलते हैं कि विद्या या ज्ञान या शौचाचार रखते हों या नहीं, पर परमेश्वरकी पराभक्तिमें सदा निष्ठा रहनेसे ईश्वरभक्ति सुलभ हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं—अन्यच्च **'भक्त्या तुष्यति केवलै र्न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः'**, माधव भक्तिसे ही संतुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं; क्योंकि उनको भक्ति प्यारी है।

टिप्पणी—२ *'जाति पाँति कुल धरम बड़ाई।……'* इति। शबरीजीने अपनेको 'अधम जाति' कहा, अतः नाता तोड़नेमें पहले जातिके नातेको ही कहा।* [खर्रा—जाति आदि खाली मेघवाली शीतल छाया है। ये लोक सुख देनेवाले हैं। मेघ दूर हुए कि तीक्ष्ण घामसे व्याकुल हुए। वैसे ही शरीर छूटनेपर भक्तिहीनको यमदण्ड व्याकुल करता है।]

नोट—१ भगवान्‌ने गीतामें कहा है—**'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥'** (९। २९) अर्थात् सब प्राणियोंमें सम हूँ, न मेरा कोई द्वेषपात्र है, न प्रिय। परंतु जो मुझको भक्तिसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ। भाव यह कि 'यह प्राणी जाति,

---

* 'पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः। न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम्॥' (अ० रा० ३। १०। २०) अर्थात् पुरुषत्व-स्त्रीत्वका भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम ये कोई भी मेरे भजनके कारण नहीं हैं।' उसका कारण तो एकमात्र मेरी भक्ति ही है।

आकार, स्वभाव और ज्ञानादिके कारण निकृष्ट है, इस भावसे कोई भी अपनी शरण प्रदान करनेके लिये मेरा द्वेषपात्र नहीं है, अर्थात् उद्वेगका पात्र समझकर त्यागने योग्य नहीं है। तथा शरणागतिकी अधिकताके सिवा, अमुक प्राणी जाति आदिसे अत्यन्त श्रेष्ठ है, इस भावको लेकर अपना समाश्रय देनेके लिये मेरा कोई प्रिय नहीं है, इस भावसे मेरा कोई ग्रहण करने योग्य नहीं है। बल्कि मुझमें अत्यन्त प्रेम होनेके कारण मेरे भजनके बिना जीवन धारण न कर सकनेसे जो केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझनेवाले भक्त मुझे भजते हैं, वे जाति आदिसे चाहे श्रेष्ठ हों या निकृष्ट, वे मेरे समान गुणसम्पन्न होकर मुझमें ही वर्तते हैं और मैं भी, मेरे श्रेष्ठ भक्तोंके साथ जैसा बर्ताव होना चाहिये, उसी प्रकार उनके साथ बर्तता हूँ।' (श्रीरामानुजभाष्य)—यह सब भाव *'मानौं एक भगति कर नाता''''''चतुराई'* में आ जाता है।

टिप्पणी—३ *'भगतिहीन नर सोहै कैसा।'''''''''''''''''* इति। (क) उपर्युक्त दसों नाते वा गुण बिना जलवाले बादल हैं। भक्ति जल है; यथा—*'राम भगति जल बिनु रघुराई। अभ्यंतर मल कबहुँ न जाई॥'* (७। ४९। ६) (ख) *'देखिय जैसा'* का भाव कि वह बादल देखने ही भरका है, उससे कुछ कार्य नहीं हो सकता। [यहाँ *'सोहै'* पद देकर जनाया कि वह अपनी शोभा इन गुणोंसे युक्त होनेके कारण समझता है पर जैसे जलहीन बादल दूसरोंकी दृष्टिमें शोभाहीन देख पड़ता है, वैसा ही वस्तुतः यह शोभाहीन है (प्र० सं०)। पुनः भाव कि जैसे 'जलरहित' मेघको 'बारिद' कहना 'वदतो व्याघात' है। वैसे ही जिसमें भक्ति नहीं है, उसे 'नर' कहना अनुचित है। जल न देनेवाले मेघको 'अभ्र' कहते हैं। वह देखनेमें सुन्दर, शुभ्रवर्ण होता है, पर उससे शस्यकी उत्पत्ति वा वृद्धि नहीं होती। और *'बारिद'* काला होनेपर भी पृथ्वीको **'सुजलां, सुफलां शस्यश्यामलाम्'** कर देता है। बिना जलवाले मेघ खेतीका नाश करते हैं वृक्षोंके फल-फूलको गिरा देते हैं। वैसे ही भक्तिहीन नर होते हैं। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—४ पहले जाति-पाँति-कुल-धर्म-बड़ाई आदि १० गुण वा नाते गिनाये, तब कहा कि *'भगतिहीन नर सोहै कैसा।''''''''* । इस क्रमका भाव यह कि ये सब गुण भक्तिके बाधक हैं; यथा *'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥ ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥'*—(सुग्रीववाक्य)

नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥ ७॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥ ८॥

दो०—गुरपदपंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन करइ कपट तजि गान॥ ३५॥

अर्थ—मैं तुझसे नवधाभक्ति कहता हूँ, तुम उसे सावधान होकर सुनो और मनमें धारण करो॥ ७॥ संतोंकी संगति प्रथम भक्ति है। मेरी कथाओंके प्रसंगमें प्रेम यह दूसरी भक्ति है॥ ८॥ गुरुजीके चरण-कमलोंकी सेवा अभिमानरहित होकर करना तीसरी भक्ति है। कपट छोड़कर मेरे गुणसमूहका गान करे यह चौथी भक्ति है॥ ३५॥

नोट—१ *'सावधान सुनु'* अर्थात् मन-बुद्धि-चित्त लगाकर सुन। भाव कि यह बड़े महत्त्वका विषय है। १५ (१) देखिये।

टिप्पणी—१ (क) जिस भक्तिके बिना सब गुण व्यर्थ हैं, अब उस भक्तिको कहते हैं। उपदेश करते हैं कि सुनकर मनमें धारण करो। मन, वचन और कायमेंसे मन दोनोंसे अधिक श्रेष्ठ है, अतः मनमें धरनेका उपदेश करते हैं। (ख) *'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा'* यहाँ बहुवचन देकर जनाया कि बहुत-से संतोंकी संगति करे, न जाने किस महात्माके द्वारा पदार्थकी प्राप्ति हो जाय। ['संत' कौन हैं, यह स्वयं श्रीरघुनाथजीने दोहा (४५। ६) से (४६। ७) तक नारदजीसे, और (७। ३७। ७) से (७। ३८) तक श्रीभरतादिसे

कहे हैं और कविने बालकाण्डमें कहे हैं, जिनमें वे लक्षण हों वे ही संत हैं।] (ग) *'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा'* इति। *'कथा प्रसंगा'* का भाव कि भगवत्कथाकी पुस्तकको पूजा, उसका दर्शन आदि भी जो भक्ति कही जाती है वह 'कथा-प्रसङ्गमें अनुरक्ति' नहीं है। कथाके प्रसङ्गमें प्रेम होना यह है कि उसके श्रवण-मननमें प्रीति हो। ('रति' का भाव वाल्मीकिजीके *'जिन्हके श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥ भरहिं निरंतर होहिं न पूरे।'* (२। १२८। ४-५) इस कथनको ही समझिये।) (ख) पहले सत्संग होता है तब कथामें प्रेम होता है, यथा—*'बिनु सतसंग न हरि कथा।'* अतः *'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा'* कहकर तब कथामें प्रीति कही। (देखिये भागवतमें श्रुतियाँ स्तुति करती हुई कहती हैं कि 'आपके परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त दुर्गम है। उसीका ज्ञान करानेके लिये आप अनेक प्रकारके अवतार ग्रहण करके लीलाएँ करते हैं, जिनको सेवन करनेसे भवश्रम दूर हो जाता है। और कुछ प्रेमी भक्त तो ऐसे होते हैं कि आपकी कथाओंको छोड़कर मोक्षकी भी चाह नहीं करते। वे आपके चरण-कमलोंके प्रेमी परमहंसोंके सत्संगमें जहाँ आपकी कथा होती है, इतना सुख मानते हैं कि अपना घरबार भी छोड़ देते हैं। यथा—'**दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः। न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः॥**' (भा० १०। ८७। २१) यही सब भाव *'रति कथा प्रसंगा'* का है। इसीसे 'संत संग' कहकर तब 'कथामें अनुरक्ति कही।')

नोट—२ (क) *'गुरुपदपंकज सेवा तीसरि भगति अमान'* इति। *'अमान'* अर्थात् दास होकर गुरुजीकी सेवा करे। [भाव यह है कि गुरुको '**गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुरेव परब्रह्म**' इस बुद्धिसे उनकी सेवा करे। यह बुद्धि रहनेसे सदा मानरहित होकर सेवा बनेगी, अन्यथा नहीं। गुरुवन्दना-प्रकरण बालकाण्डमें विस्तारमें लिखा गया है तथा मङ्गलाचरण श्लोक ३ '**वन्दे बोधमयं**.......' में।] (ख) उनका मान करे, आप अपमान रहे। (प० प० प्र० का मत है कि यहाँ *'अमान'* से गीता (१३। ७) के '**अमानित्वमदम्भित्वं**' से लेकर '**तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**' (श्लो० १२) तकके सब लक्षणोंका ग्रहण करना चाहिये।) (ग) *'गुनगन करै कपट तजि गान'* इति। अर्थात् दिखाने, रिझाने या धन कमानेके लिये नहीं। (घ) शंका—*'रति कथा प्रसंगा'* दूसरी भक्ति और 'गुणगान' चौथी भक्ति ये दोनों तो एक ही हैं। समाधान—दूसरी भक्तिका तात्पर्य यह है कि कथा श्रवण करे और चौथीका तात्पर्य है कि स्वयं गान करे। एक श्रवण दूसरा कीर्त्तन यह भेद है। भा० १२। १२ में श्रीसूतजीने शौनकादि ऋषियोंसे कहा है कि भगवान्‌के कीर्तन अथवा श्रवणसे वे स्वयं ही हृदयमें आ विराजते हैं और श्रवण तथा कीर्तन करनेवाले पुरुषके सारे दुःख मिटा देते हैं—ठीक वैसे ही जैसे सूर्य अन्धकारको और आँधी मेघोंको तितर-बितर कर देती है। यथा— '**संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्। प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवाति वातः॥**' (४०)] (ङ) कथा-श्रवणसे गुरुसेवामें निष्ठा होती है। गुरुकी प्रसन्नतासे कपट-रहित गुण-ग्राम-गानकी शक्ति होती है। प्रथम गुरुसेवा कहकर तब गुणगान कहनेका भाव कि गुरुमुखसे सुनकर तब गान करे; यथा—*'मैं पुनि निज गुरुसन सुनी कथा सो सूकरखेत.......'*, *'भाषाबद्ध करब मैं सोई।'*

नोट—२ (गुरुभक्तिपर रुद्रयामल, श्रीधर्मकल्पद्रुम, गुरुगीता, श्वेताश्वतर (३। ६) आदि देखिये।)

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥ १॥
छठ दमसील बिरति बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन धर्मा॥ २॥
सातव सम मोहि मय जग देखा। मो तें संत अधिक करि लेखा॥ ३॥
आठव जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहि देखइ पर दोषा॥ ४॥

शब्दार्थ—**दम**=इन्द्रियनिग्रह। **दमसील**=मनसमेत समस्त इन्द्रियोंको सदा वशमें रखनेवाला होना।

अर्थ—मेरे मन्त्रका जप और उसमें दृढ़ विश्वास, यह पाँचवीं भक्ति है, वेदोंमें प्रसिद्ध है॥ १॥ इन्द्रियदमनशील होना, बहुत-से कर्मोंसे बहुत वैराग्य होना और निरन्तर सज्जनोंके धर्ममें तत्पर रहना छठी भक्ति है॥ २॥ जगत्‌भरको एक समान मुझ-मय (राम-मय) देखे और सन्तोंको मुझसे अधिक समझे,

यह सातवीं भक्ति है॥ ३॥ जो कुछ प्राप्त हो उसीमें संतोष करे, स्वप्नमें भी पराये दोषको न देखे, यह आठवीं भक्ति है॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'मंत्रजाप'* यथा—*'मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा।'* (२। १२९। ६) *'दृढ़ बिस्वासा'* अर्थात् जपके साथ ही उसमें (तथा गुरुजीके वचनमें, यथा—*'सद्गुरु बैद्य बचन बिस्वासा')* पूर्ण विश्वास भी रहना चाहिये, नहीं तो बिना विश्वासके सिद्धि नहीं प्राप्त होनेकी; यथा—*'कवनिउ सिधि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरिभजन न भवभय नासा'* '**भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्त स्थमीश्वरम्।**' (प्र०—रामतापनी-उपनिषद् तथा रामोपनिषद्से राममन्त्र प्रसिद्ध हुआ, अतः *'बेद प्रकासा'* कहा।)

प० प० प्र०—१ जिसका मनन करनेसे पञ्चक्लेशोंसे त्राण होता है उसको मन्त्र कहते हैं। '**मननात्त्राणनात् मन्त्रः।**' एक ही उपास्य देवताके अनेक मन्त्र होते हैं और उनके फलमें भी कुछ-न-कुछ भेद होता है। मन्त्रके अक्षरोंमें अक्षरोंके शक्त्यनुसार विशिष्ट अदृष्ट शक्ति रहती है। पर जबतक मन्त्र चेतन नहीं होगा तबतक वह शक्ति भी जड़वत् और सुप्तस्थितिमें ही रहती है। जिस महापुरुषने मन्त्रको चेतन कर रखा हो, मन्त्रको जागृत करके वह यदि योग्य अधिकारी शिष्यको उसका उपदेश करे तो उपदेशकालमें ही अथवा गुरूपदिष्ट विधिसे पथ्यका पालन करके अनुष्ठान करनेपर एक वर्षके भीतर ही, शिष्यको मन्त्रचैतन्यके अनुभव मिलते हैं। अन्यथा शिष्य अथवा गुरुको अनधिकारी समझना चाहिये। यदि गुरुके अन्य शिष्योंको प्रतीति मिल गयी हो तो शिष्यको अनधिकारी समझना चाहिये।

प० प० प्र०—२ *'जाप'*—कलियुगमें उपास्य देवताके मन्त्रका देवता जप ही प्रधान अमोघ है। और मानसजप चाहे जिस स्थितिमें करनेमें दोष नहीं।—'**अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन्नपि। मन्त्रैकशरणो विद्वान् मनसैव सदाभ्यसेत्॥**' अन्यथा निम्नलिखित दोषोंका त्याग करके ही मन्त्रजप करना चाहिये। मन्त्रार्णव, यथा—'**उष्णीषी कञ्चुकी नग्नो मुक्तकेशो मलावृतः। अपवित्रकरोऽशुद्धः प्रलपन्न जपेत्क्वचित्॥ अप्रावृतौ करौ कृत्वा शिरसाऽप्रावृतोऽपि च। चिन्ताव्याकुलचित्तो वा क्रुद्धो भ्रान्तः क्षुधान्वितः॥ अनासनः शयानो वा गच्छन्नुच्छिष्ट एव वा। रथ्यायामशिवस्थानेन जपेत्तिमिरान्तरे॥ उपानद्गूढपादो वा शय्यायां च गतस्तथा। प्रसार्य न जपेत्पादौ कुक्कुटासन एव च॥ पतितानामन्त्यजानां दर्शने भाषणे श्रुते। क्षुतेऽधोवायुगमने जृम्भणे च समुत्सृजेत्॥ प्राप्तावाचम्य चैतेषां प्राणायामं षडङ्गकम्। कृत्वा सम्यग्जपेत् क्षेमं यद्वा सूर्यादिदर्शनम्॥**……' (रा० चं० प० ४) अर्थात् मस्तकमें वस्त्र लपेटकर, कपड़ा पहनकर, नंगे, बाल खुले हुए, मलावृत, अशुद्ध हाथके समय, बात करनेमें जप न करे। माथा खुला होनेपर भी हाथ खुले हुए, चिन्तायुक्त, क्रुद्ध, भ्रमयुक्त, भूखसे व्याकुल, भ्रान्त, बिना आसन, सोते हुए, चलते हुए, जूठे मुँह, अशुभस्थानमें एवं गाढ़ अन्धकारमें जप न करे। जूता पहने, बिस्तरे (बिछौने) पर, पैर फैलाये, उकड़ूँ बैठे हुए, पतितोंके दर्शन तथा उनका भाषण सुनते समय, थूकते हुए, अधोवायुके निकलते समय, जँभाई लेनेपर जप छोड़ दे। और यदि यह हो जाय तो आचमन करके साष्टांग प्रणाम करके और सूर्यका दर्शन करके जप प्रारम्भ करे।

वाचिक और मानसिक जपके ये दो मुख्य प्रकार हैं। '**मनोमध्ये स्थितो मन्त्रो मन्त्रमध्ये स्थितं मनः। मनोमत्र समायोगो जप इत्यभिधीयते॥**' अर्थात् मनमें मन्त्र और मन्त्रमें मन स्थिर है, मन और मन्त्रका इस प्रकार योग 'जप' कहलाता है। (नोट—जपके सम्बन्धमें बालकाण्डमें बहुत कुछ लिखा जा चुका है)।

टिप्पणी—२ गुरुभक्तिके पीछे गुणगान और मन्त्रजाप कहा—क्योंकि ये दोनों गुरुसे प्राप्त होते हैं, यथा—*'उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भवरजनी के॥ सूझहिं रामचरित मनि मानिक।'* (१। १। ७-८) [संतोंको अधिक मानना इस कारण कहा कि पहुँचे हुए सन्त भगवान्से मिला देते हैं। अथवा दास पुत्रसम हैं, संसारमें प्रत्यक्ष देखा जाता है कि पुत्रको प्यार करनेवाला मनुष्य पिताको अपने प्यार करनेवालेसे अधिक प्यारा होता है; अतः सन्तोंको अधिक माननेका उपदेश किया। (प्र०)]

प० प० प्र०—'दमसील' से '**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**' (गीता २। ६१) यह गीताके स्थितप्रज्ञका लक्षण कहा। *'बिरति बहु कर्मा'* में 'उपरति' का निर्देश है।

टिप्पणी—३ *'छठ दमसील बिरति बहु कर्मा········'* यथा—*'नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू॥'* (३६) अर्थात् बहुत-से जो नाना प्रकारके कर्म हैं उनसे वैराग्य करे और सज्जनधर्ममें निरत रहे। 'बहुकर्म' अर्थात् नित्य नैमित्तिक कर्म,—(खर्रा)—[खर्रा—सत्संग, कथा, गुरुसेवा, गुणगान, मन्त्रजाप, भजनमें दृढ़ता ये वेदमें लिखे हैं। चौथी भक्तितक बाह्यकृत्य और पञ्चमसे नवमतक अन्तरकी कहते हैं। पुनः, *बहुकर्माका* भाव कि केवल निर्वाह मात्रको कर्म करे, अधिक नहीं। यथा—'**शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्**।' (गीता ४। २१)]

प० प० प्र०—१ *'नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत सोकप्रद सब त्यागहू। बिश्वास करि कह दास तुलसी रामपद अनुरागहू॥'* (३६) यह नवधाभक्तिका सार इस प्रसंगमें जो कविने कहा है उससे *'बिरति बहु कर्मा'* का अर्थ 'बहु कर्मोंका त्याग' होता है। पर साथ ही *'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती'* यह भी श्रीमुखवचन है, अतः 'वर्णाश्रमधर्मके अतिरिक्त अन्य अनेक कर्मोंका त्याग' ही *'बिरति बहु कर्मा'* का अर्थ विशेष योग्य होगा। २ *'सज्जन धर्मा'*, यथा—*'ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥'* (७। ४९। २) ये सज्जनोंके धर्म हैं। अथवा, *सज्जन*=संत। संतोंके धर्म दोहा (४५-४६) में भगवान्ने स्वयं कहे हैं। कैसा सज्जन भगवान्को प्रिय है, यह उन्होंने स्वयं बताया है। यथा—*'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥ अस सज्जन मम उर बस कैसे।·········'* (५। ४८)

टिप्पणी—४ *'सातवँ सम मोहि मय जग देखा·······'* इति। यथा—*'स्वर्ग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देखि धरे धनु बाना॥'* (२। १३१। ७) [यह रामोपासकोंका लक्षण है, यथा—'**भूमौ जले नभसि देवनरासुरेषु भूतेषु देवसकलेषु चराचरेषु। पश्यन्ति शुद्धमनसा खलु रामरूपं रामस्य ते भुवितले समुपासकाश्च**॥' (महारामायण ४९। ८), '**खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः**॥' (भा० ११। २। ४१) अर्थात् जो पृथ्वी, जल सभी चराचरमें श्रीरामरूप ही देखते हैं वे उत्तम रामोपासक हैं। चर-अचर सभी भगवान्का शरीर हैं, अतः सबको अनन्य भावसे प्रणाम करे।] जब सब जगत्को राममय देखेगा तो सन्तोंमें भी वही समान भाव हुआ, इसीसे आगे कहते हैं कि *'मोते संत अधिक करि लेखा।'* यही बात गरुड़जीने कही है; यथा—*'मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। रामते अधिक राम कर दासा॥ राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदनतरु हरि संत समीरा॥'* (७। १२०) इसमें भगवत् और भागवत दोनोंकी भक्ति कही। [खर्रा—सन्त जगत्से निर्लिप्त रहते हैं, यथा—*'जे बिरंचि निर्लेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये'*, अतः अधिक कहा।]

टिप्पणी—५ *'आठव जथा लाभ संतोषा·········'* इति। जब भगवान्के स्वरूपकी प्राप्ति हुई तब सन्तोष प्राप्त हुआ। [सन्तोष होनेसे किसीपर मन नहीं जायगा, न किसीसे शत्रुता होगी, किसीमें छिद्र देखेगा ही नहीं; यह उत्तम सन्तोंका लक्षण है; यथा—*'जिमि परद्रोह संत मन माहीं'* और, छिद्र देखकर छिपाना, (यथा—*'जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहि जग जसु पावा॥'*) यह मध्यमका लक्षण है। उत्तमके स्वप्नमें भी परदोष मनमें नहीं आता और इनके मनमें आता है। (खर्रा)]

नोट—१ देह प्रारब्धवश है, इसीलिये भोजन-वस्त्रके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है, वह तो आप ही मिलेगा। जो कुछ लाभ (प्राप्त) हो उसीमें सन्तोष करे। पराये दोष देखनेसे हमारा अन्तःकरण मलिन होगा। जब दूसरा ही प्रेरक है; तब हम दूसरेके दोष क्यों देखें, हमें तो गुण ही देखना चाहिये, क्योंकि वह मनुष्य भी तो पराधीन है। जब मनमें दोष न रहेगा तो वह भीतर-बाहर एक हो जायगा। (पं० रा० व० श०) *'जथालाभ संतोष सदाई।'* (७। ४६) यह भक्ति पुरजनसे कही है। जब दोषोंपर दृष्टि ही न जायगी, तब दोषवर्णनरूपी

पापसे तो सदा बचा ही रहेगा—*'परनिंदा सम अघ न गरीसा।'* श्रीमुखवचन है कि'.........*मायाकृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिअहि देखिय सो अबिबेक॥'* (७। ४१) गुण और दोष सब मायाकृत हैं। इनपर दृष्टि डालना मायापर दृष्टि डालना है। संसारमें निर्दोष कोई नहीं है। जो मनुष्य प्रार्थना करता है कि 'भगवन्! मेरे दोषोंकी तरफ न देखिये, मैं तो दोषोंसे भरा हुआ हूँ और फिर भी दूसरोंके दोषोंको खोजता रहता है, उसको ऐसी प्रार्थना करनेका क्या अधिकार है? (प० प० प्र०)

नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥५॥
नव महुँ एकौ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥६॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥७॥

अर्थ—सरल (कपटछलरहित, सीधा-सादा) स्वभाव, सबसे छलरहित व्यवहार, हृदयमें मेरा भरोसा, हर्ष और दीनता (शोक वा दुःख) रहित होना नवीं भक्ति है॥५॥ इन नौमेंसे एक भी भक्ति जिनके होती है, स्त्री-पुरुष, चर-अचर सहित कोई भी हो, वही, हे भामिनि! मुझे अतिशय प्रिय है और तुममें तो सभी प्रकारकी भक्तियाँ दृढ़ हैं॥६-७॥

प० प० प्र०—*'सरल सब सन छल हीना।'.......'* इति। (क) कपट छलके कारण 'मैं और मोर' तथा 'भगवान्पर पूरा भरोसा न होना' है। जबतक ये न जायँगे सरलता आदि गुण आ ही नहीं सकते। जबतक यह भावना न होगी कि दुःख-सुख, अनुकूल-प्रतिकूल जो कुछ भी सामने आता है वह सब भगवान्का प्रसाद है, हमारा हित इससे ही होगा इसीसे प्रभुने कृपा करके यह परिस्थिति भेजी है, तबतक दर्प और विषाद कैसे जा सकते हैं? अन्य किसीका भी आशा-भरोसा न करना यही एकमात्र भगवान्के भरोसेका लक्षण है। यथा—*'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥'* जिस भोगको अन्य लोग दुःख कहते हैं, वह जब सुखरूप अनुभव हो तभी भगवान्पर भरोसा उत्पन्न हुआ समझिये। इसीसे तो चतुराननजी प्रार्थना करते हैं कि *'मति मोर बिभेद करी हरिये॥ जेहि ते बिपरीत क्रिया करिये। दुख सो सुख मानि सुखी चरिये॥'* (६। ११०) [भगवान्पर निर्भर हो जाना ही भरोसा है; यथा—*'है छरुभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।'* (वि० १०३) तब फिर चिंता कहाँ?]

टिप्पणी—१ (क) *'सरल सब सन छल हीना'*, यथा—*'सरल सुभाव न मन कुटिलाई।'* यह सन्तलक्षण है और श्रीमुखवचन है। (ख) *'मम भरोस हिय हरष न दीना'*—हर्ष उत्तम पदार्थके लाभसे और दीनता पदार्थकी हानिसे। जब पारसकी प्राप्ति हुई तब रुपये-पैसेके हानि-लाभमें दुःख-सुख नहीं होता, वैसे ही श्रीरामजीकी प्राप्ति होनेपर मायिक पदार्थोंके हानि-लाभमें दुःख-सुख नहीं होता। (ग) *'नारि पुरुष सचराचर होई'* इति। शबरीजीने अपनेको स्त्री कहकर *'अति अधम'* कहा है, इसीसे प्रथम यहाँ *'नारि'* पद दिया। [नोट—स्त्री-पुरुष बोलनेका मुहावरा है।] (घ) *'सोइ अतिसय प्रिय'* अर्थात् प्रिय तो सभी हैं पर भक्त अतिशय प्रिय हैं, यथा *'सब मम प्रिय सब मम उपजाये।'*............' ['भामिनी' अर्थात् जिसका विषयादि सांसारिक तुच्छ सुखोंपर क्रोध है। (प्र०)।*'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता'* (३५। ४) भी देखिये।]

प० प० प्र०—१ शबरीजीका मुख्य साधन सन्त-गुरुसेवा ही था। गुरुके वचनपर उनको कितनी दृढ़ निष्ठा थी वह वाल्मी० (३। ७४) से स्पष्ट है। ऐसे प्राणियोंके हृदयमें श्रीसीताराम-लक्ष्मणजी निवास करते हैं। यथा—*'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी॥ तिन्ह के मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ।'* (२। १२९) यहाँ *'सोइ अतिसय प्रिय'* का यही भाव है। *'अतिसय प्रिय'*= प्रियतम।

प० प० प्र०—२ सब आशाओंको छोड़कर भगवान्का भजन करनेवाला ही भगवान्को प्रिय है। श्रीरामजीने पुरवासियोंसे कहा है कि *'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥'* (७। ३। ५) अब देखिये उनकी आज्ञा क्या है। *'अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम। सदा सर्बगत सर्बहित जानि करहु अति प्रेम॥'* (७। १६) यह सब वानरयूथपोंसे कहा है। *'जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम बचन*

धरम अनुसरेहू॥' (७। २०। २) यह निषादराजसे कहा है। *'मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग। काय बचन मन मम पद करेसु अचल अनुराग॥'* (७।८५) *'सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही'* (७। ८६। २)'····*जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच और काया॥ पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ। सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥ सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय। अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब।'* (७।८७)'·······*सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही॥'* इत्यादि भुशुण्डिजीसे कहा है।—इन आज्ञाओंका पालन करनेवाला ही भगवान्‌को परम प्रिय होता है।

प० प० प्र०—३ *'भामिनि'* इति। '**सुन्दरी रमणी रामा कोपना सैव भामिनी**' (अमरकोश) यद्यपि इतने अर्थ हैं तथापि यहाँ '**रामा**' (=**रमयति रमयते वा। अस्यां वा रम्यते**) अर्थ लेना उचित है। उसमें श्रीरामजीका मन रम गया। भगवान् भक्तरूपी परम पवित्र शाश्वत सौंदर्यमें ही रमते हैं। विशेष *'सुनु भामिनि बाता।'* (३५। ४) में देखिये। (*भामिनि*=भक्तितेजसे दीप्तिमती)

टिप्पणी—२ (क) *'एकौ होई'* का भाव कि लोगोंमें इन नौमेंसे एक भी होना दुर्लभ है और होती भी है तो दृढ़ नहीं होती, पर तुझमें ये नवों हैं और दृढ़ हैं। (ख) *'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे', 'श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं', 'मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा', 'सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा', 'मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा'* ये सब भक्तियाँ दृढ़ होकर करनी चाहिये। तुममें एक-दो प्रकारकी भक्ति कौन कहे, ये सब प्रकारकी भक्तियाँ दृढ़ हैं। पुनः, (ग) *'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे'* का भाव कि इसका फल हमारा दर्शन है अर्थात् तेरी भक्तिसे मैं यहाँ आया। यथा—'**यस्मान्मद्भक्तियुक्ता त्वं ततोऽहं त्वामुपस्थितः।**' (अ० रा० ३। १०। ३१) अब हमारे दर्शनका फल सहज स्वरूपकी प्राप्ति है सो आगे कहते हैं। सहज स्वरूपकी प्राप्तिके समान और किसी पदार्थकी प्राप्ति नहीं है, उसे अनूप कहेंगे।

नोट—१ अ० रा० सर्ग १० में चौ० ३-४ की जोड़के श्लोक ये हैं—'**एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा॥ स्त्रियो वा पुरुषस्यापि तिर्यग्योनिगतस्य वा। भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे॥**' '**प्रथमं साधनं यस्य भवेत्तस्य क्रमेण तु।**' (२७-२८, ३०) देखिये *'एकउ'* शब्द अ० रा० के '**प्रथमं साधनं यस्य भवेत्तस्य क्रमेण तु**' से कितने अधिक जोरके हैं और *'सोइ अतिसय प्रिय'* यह वाक्य '**भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा**' से कितने अधिक बलवान्, उत्कृष्ट और भावगर्भित हैं।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं'* (३६) इति। '**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**' यही नवधाभक्ति प्रसिद्ध है और भगवान्‌ने भी इसी नवधाभक्तिका उपदेश लक्ष्मणजीको किया; यथा—*'श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥'* परन्तु शबरीको जिस नवधाभक्तिका उपदेश दिया, वह तो स्पष्ट ही श्रवणादिक नवधाभक्तिसे पृथक् है। इस पार्थक्यका कारण होना चाहिये।

लक्ष्मणजीको सरकारने भक्तियोगका उपदेश दिया, जिसमें साधनभक्ति, भावभक्ति तथा प्रेमाभक्ति तीनोंका समावेश है, उसमें कोई बात छूटी नहीं है, यथा—*'थोरेहि महँ सब कहौं बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥'* और यह भी मानना पड़ेगा कि 'दोनों उपदेशोंका हृदय एक है, फिर भी प्रकारमें इतना बड़ा भेद क्यों है?' यह प्रश्न बिना उठे नहीं रह सकता।

दोनों प्रकरणोंको निविष्ट चित्तसे मनन करनेसे यह बात मनमें आती है कि भक्तियोगका लक्ष्य भगवान्‌को अपना प्रेमपात्र बनाना है। भक्तको कोई कामना न होनी चाहिये, यहाँतक कि प्रेमपात्रकी प्रसन्नताकी भी अपेक्षा न रहे; यथा—*'जानहुँ राम कुटिल करि मोही। लोक कहौ गुरु साहिब द्रोही॥ सीताराम चरन रति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे॥'* भक्तियोगका यही लक्ष्य मालूम होता है; यथा—*'बचन कर्म मन मोरि गति भजन करैं निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महँ करौं सदा बिश्राम॥'* अर्थात् भक्तियोगका पर्यवसान भगवान्‌को प्रेमपात्र बनानेमें है।

परन्तु शबरीको जिस नवधाभक्तिका उपदेश दिया है, उसका पर्यवसान स्वयं भगवान्‌के प्रेमपात्र बननेमें

है, यथा—*'नव महँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥ सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥'*

शबरी अपनेको भक्तियोगका अधिकारी नहीं मानती, यहाँतक कि उसे स्तुति करनेमें भी सङ्कोच है। कहती है कि *'केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़ मति भारी॥ अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥'* इसपर भगवान् उसे भक्तके वे नौ लक्षण बतलाते हैं, जिससे वह भगवान्का प्रेमपात्र बन जाती है। और शबरीको आश्वासन देते हैं कि तू अपनेको अधम मत मान, तू मुझे अतिशय प्रिय है। इसका प्रमाण यह है कि *'जोगिबृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥'*

अतः निष्कर्ष यह निकला कि भक्तियोगका पर्यवसान भगवान्को प्रेमपात्र बनानेमें है और शबरीको जिस नवधा भक्तिका उपदेश दिया गया उसका पर्यवसान भगवान्का प्रेमपात्र बननेमें है। अतः दोनोंमें पार्थक्य निष्कारण नहीं है।

नोट—२ कोई ऐसा भी कहते हैं कि श्रीरामगीतावली नवधाभक्ति प्रवृत्तिमार्गमें पड़े हुए लोगोंके लिये है और यह निवृत्तिमार्गमें प्राप्त लोगोंके लिये है।

नोट—३ अ० रा० में भी भगवान्ने शबरीजीसे नवधाभक्ति कही है। इनमेंसे सात भक्तियाँ तो प्रायः किञ्चित् क्रम-भेदसे मिलती-जुलती हैं। दोमें भावार्थसे मेल हो सकता है।

मानसकी नवधाभक्ति	अध्यात्मरामायणकी नवधाभक्ति (सर्ग १०)
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा	१-सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्॥ २२॥
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा	२-द्वितीयं मत्कथालापः
गुरपदपंकज सेवा तीसरि भगति अमान	३-आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्या मायया सदा॥ २४॥
चौथि भगति मम गुनगन करइ कपट तजि गान	४-तृतीयं मद्गुणेरणम्। व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं
मंत्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम………	५-मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते॥ २५॥
छठ दम सील बिरति बहु कर्मा।	६-………पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च॥ २४॥
निरत निरंतर सज्जन धर्मा॥	निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम्॥ २५॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मो तें संत अधिक करि लेखा॥	७-मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः॥ २६॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहु नहिं देखइ परदोषा॥	८-बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा॥ २६॥
नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥	९-नवमं तत्त्वविचारो मम॥ ७॥

जैसे मानसमें *'भामिनि'* शब्द उपक्रम और उपसंहारमें है, वैसे ही अ० रा० में यथा—यहाँ *'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता', 'सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें'* तथा वहाँ **'तस्माद्भामिनि संक्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम्॥'** (२२) *'नवमं तत्त्व-विचारो मम भामिनि॥'* (२७) आगेकी चौपाइयाँ अ० रा० से मिलती हैं। मानसकी तीसरी, चौथी, पाँचवीं और सातवीं भक्तियाँ अ० रा० की क्रमशः पाँचवीं, तीसरी, चौथी, सातवीं और आठवीं हैं।

जोगिबृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥ ८॥
मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥ ९॥

शब्दार्थ—सहज=प्राकृत, स्वाभाविक जो वास्तव-रूप है।

अर्थ—योगी लोगोंको भी जो गति दुर्लभ है, आज तुझे वही सुगमतासे प्राप्त हो गयी॥ ८॥ मेरे दर्शनका परम अनुपम फल यह है कि जीव अपना सहज स्वरूप पा जाता है॥ ९॥

टिप्पणी—१ *'जोगिबृंद दुर्लभ गति जोई*………' इति। भाव कि योगियोंको अष्टाङ्गयोगादि कठिन साधन करनेपर भी जो दुर्लभ है, वही गति भक्तिसे सुलभ हो जाती है। वह कौन गति है? *'मम दरसन*………'। पुनः, 'योगिवृन्द' का भाव कि एक-दोकी क्या कहें, वृन्दको भी दुर्लभ है। [योगी कैवल्य या सायुज्य

मुक्तिके लिये प्रयत्न करते हैं। तथापि उनको भी जो दुर्लभ है वह है 'कैवल्य', यथा—'***अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥***' (७। ११९। ३); वह बिना योगादि साधनोंका कष्ट उठाये तुझे सुलभ हो गयी। (प० प० प्र०) वाल्मी० सर्ग ७४ में श्रीरामजीने कहा है कि तुमने मेरी पूजा की। अब अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक अपने गुरुके लोकमें जाओ। यथा—'**अर्चितोऽहं त्वया भद्रे गच्छ कामं यथासुखम्॥**' (३१)………']

टिप्पणी—२ '*जीव पाव निज सहज सरूपा*' इति। सहज स्वरूप जीवका क्या है? उत्तर—मायारहित जो स्वरूप है। यथा—'***ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥***' (७। ११७। २-३) '***मायाबस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते नाना दुःख पायो॥***' दोनों भावसे—ज्ञानसे पाया तो असत् छूट सत्‌की प्राप्ति हुई, भक्तिसे पाया तो स्वामीमें प्रीति हुई, असत् छूटा।

नोट—विनयका यह पद भी देखिये, इसमें भी सहज स्वरूपका वर्णन है—

'***जिय जब तें हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो॥ मायाबस स्वरूप बिसरायो।………आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥ मृगभ्रम बारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी॥ तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ। निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि चलि आयो तहाँ॥ निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्‌यो। निःकाज राज बिहाइ नृप इव स्वप्न कारागृह पर्‌यो॥ २॥ अनुराग जो निजरूप तें जगतें बिलक्षण देखिए। संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिए॥ निर्मम निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न ब्यापई। त्रैलोक्य पावन सो सदा जाकहुँ दसा ऐसी भई॥***' (११) (विनय १३६) [विशेष '*संकर सहज सरूप सँभारा।*' (१। ५८। ८) में देखिये। वहाँ इसपर विस्तारसे विचार किया गया है।]

जीवके जो स्वरूप संसारमें दिखायी देते हैं वे कर्मकृत हैं। सतोगुणी कर्मसे देवयोनि और रज-सत्त्वसे राजा आदिकी योनि इत्यादि मिलती है। जब समस्त कर्मोंका विध्वंस हो जाय तब वह सहज स्वरूप जो वचनसे अगोचर शुद्ध सच्चिदानन्दमयस्वरूप है, प्राप्त हो। जिसे प्राप्त हो वही जान सकता है, पर वह भी कह नहीं सकता। भगवत्-साक्षात्कार होनेपर इस स्वरूपकी प्राप्ति होती है।

श्रीबैजनाथजी—प्रभुका दर्शन किस प्रकार होता है और जीवका सहज स्वरूप कैसा है? वेदरीति यह है कि करोड़ों कल्पोंतक जप, होम, योग, यज्ञ और ब्रह्मज्ञानमें रत रहे तब अन्तर-बाहर शुद्ध होकर भक्ति प्राप्त होती है, तब दर्शन होते हैं। यह साधन साध्य (क्रियासाध्य रीति) है। कृपासाध्य ऐसी है कि नवधाभक्ति जो कही है उससे विमुख विषयी आदि सब जीवोंको प्रभुके दर्शन स्वाभाविक होकर जीवको सहज स्वरूप प्राप्त हो जाता है—प्रभुके कैंकर्यमें लगे रहना 'सहज स्वरूप' है नौ आवरण हैं जिनमेंसे शुद्ध आत्मा, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, शब्द, स्पर्श और रूप यहाँतक जीवमें चैतन्यता रहती है और इनकी सातों भूमिकाएँ ज्ञानसे शुद्ध हो सकती हैं। जब रसके वश हुआ तब विमुख होता है और गन्ध आवरणके वश होकर विषयी होता है—ये नवों आवरण नवधाभक्तिसे हट सकते हैं। इस प्रकार कि सत्संगसे विषयसे विरक्त हो भू-तत्त्व गन्ध जीते। हरियश सुनकर हरिसम्मुख हो जलतत्त्व रस आवरण जीते। गुरुसेवासे मन स्थिर होकर रूप और हरियशगानसे पवनतत्त्व स्पर्श आवरण हटें, इत्यादि।

श्रीचक्रजी—जीवका स्वस्वरूप ज्ञान क्या? अद्वैत वेदान्तीको तो '**स्वस्वरूप**' शब्द सुनते ही ब्रह्मके स्वप्न दीखने लगते हैं, किन्तु भक्तिमार्गके अनुगामी भी कदाचित् इस शब्दसे चौंकें। बात यह है कि यह जगत् और जगत्‌का यह अपार नानात्व कहाँसे आया? इस प्रश्नका उत्तर तो देना ही चाहिये। नानात्वकी प्रतीति अज्ञानसे है, यह कह देना तो सरल है, किन्तु यह सोचनेकी बात है कि एक ही ज्ञानस्वरूप नित्य ब्रह्म जब सत्य है तो अज्ञान किसे? दूसरी बात यह है कि अज्ञान अन्धकारधर्मा है, उसका स्वभाव अभेद दिखलाना है, भेद दिखलाना नहीं है। जो अनपढ़ है उसके लिये अक्षर एक-से, जो स्वरोंका ज्ञाता

नहीं, उसके लिये सब राग समान। अक्षरों तथा रागोंके भेदका ज्ञान उनके जानकारको ही होता है। रात्रिका अंधकार सारे रूप-भेदको एकाकार कर देता है, भेदका ज्ञान तो प्रकाश कराता है। इसलिये जगत्के इन नाना रूपों, असंख्य भेदोंको अज्ञानका भ्रम कहना ठीक नहीं है।

ये नानात्व यद्यपि इस रूपमें मिथ्या हैं, भ्रम हैं, किन्तु उनका एक सत्य आधार है। वह आधार है भगवान्का सत्यधाम। भगवान्के नित्य धाममें तरु हैं, लताएँ हैं, सरोवर हैं, सरिताएँ हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, नर-नारी पार्षद हैं, नित्य हैं। उनकी प्रतिछाया इन नाना रूपोंमें प्रतिभासित है। प्रतिबिम्ब या छाया सत्य नहीं, वह तो मिथ्या है ही; अतः शास्त्र जगत्को मिथ्या कहता है तो चौंकनेकी कोई बात नहीं। लेकिन इस मिथ्याका एक आधार है और वह सत्य है, शाश्वत है, चिन्मय है।

इतनी बात समझमें आ जाय तो समझमें आ जायगा कि जगत्के प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणीका नित्य भगवद्धामके किसी पदार्थ या प्राणीसे सम्बन्ध है। जगत्का प्राणी या पदार्थ नित्यधामके प्राणी या पदार्थकी छायामात्र है। अतः इस छायाका स्वस्वरूप वह है जो नित्य भगवद्धाममें है। अपने उस स्वस्वरूपका ज्ञान होनेपर जीव उस नित्य स्वरूपमें एक हो जाता है।

कोई अपनेको मान ले कि मैं अमुक सखी, अमुक अली या अमुक पार्षद हूँ—यह मानना ज्ञान नहीं है। वैसे तो आज अपनेको श्रीजानकीजी और श्रीराधाजीकी सखियाँ माननेवालोंकी संख्या बहुत बड़ी है। लोग तो अपनेको श्रीजानकीजी और श्रीराधाका ही अवतार मानते हैं। इससे भी आगे बढ़कर दर्जनों ऐसे भी हैं जो अपनेको कल्कि अवतार या श्रीकृष्णका अवतार घोषित करते हैं। यह सब तो दम्भ है या बुद्धिका उन्माद। यदि ये दोनों बातें हों तो ऐसी मान्यता उपासनाका साधन होती है; किन्तु मान्यता तो मान्यता है, वह न सत्य है न ज्ञान।

स्कन्दपुराणमें श्रीमद्भागवतका माहात्म्य है। उसमें यह कथा है कि श्रीकृष्णचन्द्रके परमधाम चले जानेपर वज्रनाभ बची-खुची श्रीकृष्णचन्द्रकी रानियोंके साथ हस्तिनापुर अर्जुनद्वारा पहुँचाये गये, और पाण्डवोंके महाप्रस्थान कर जानेपर परीक्षित्के साथ मथुरा आये। वहाँ उन्हें उद्धवके दर्शन हुए। उद्धवजीने उनको श्रीमद्भागवत सुनाया। अन्तमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए। वज्रनाभने देख लिया कि श्रीनन्दनन्दनके दाहिने चरणमें जो वज्रका चिह्न है वही उनका स्वस्वरूप है। रानियोंको भी अपने-अपने 'स्वस्वरूप' के दर्शन हुए। इसके बाद सांसारिक लोगोंके लिये तो वज्रनाभ तथा वे रानियाँ अदृश्य हो गयीं। क्योंकि स्वस्वरूपका दर्शन और उससे सायुज्य एकत्व ये दोनों क्रियाएँ साथ-साथ सम्पन्न हो गयीं।

'स्वस्वरूप' का अपरोक्ष साक्षात्कारका अर्थ है भगवत्कृपासे भगवद्दर्शन करके यह प्रत्यक्ष देख लेना कि भगवान्के नित्यधाममें अपना क्या स्वरूप है। इस 'स्वस्वरूप' दर्शनके होनेपर वज्रनाभकी भाँति सभी तत्काल अदृश्य हो जायँ यह आवश्यक नहीं है। प्रारब्ध शेष हो तो ये संसारमें रह सकते हैं। वज्रनाभ तो थे ही भगवत्-पार्षद। लेकिन भक्ति-मार्गका सच्चा ज्ञान यही है। और, इस ज्ञानके बिना जीव मायाके बन्धनसे मुक्त नहीं होता। '**ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः**' समझनेके लिये यह समझ लेना बहुत आवश्यक है।

प० प० प्र०—शरभंग, जटायु और वालिको भी मरते समय भगवान्का दर्शन हुआ पर उनको सायुज्य या कैवल्यकी प्राप्ति नहीं हुई। कारण स्पष्ट है कि शरभंगने '***प्रथमहि भेद भगति बर लएऊ***', वालिने '***जेहि जोनि जनमउँ कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ***' यह माँगा था और जटायुने कहा था कि '***प्रान चलन चहत अब कृपानिधाना***' अर्थात् प्राणोंके उत्क्रमणकी भावना की गयी, इससे प्राण लीन नहीं हुए। यथा—'**न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव तस्य प्रविलीयन्ति कामाः।**'

जनकसुता कइ सुधि भामिनी। जानहि कहु करिबरगामिनी*॥ १०॥
पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥ ११॥

* पाठान्तर—'गजबरगामिनी'—(काशी)। कुछ लोग इसे सीताजीमें लगाते हैं।

सो सब कहिहि देव रघुबीरा। जानतहूँ पूछहु मति धीरा॥ १२॥
बार बार प्रभुपद सिरु नाई। प्रेम सहित सब कथा सुनाई॥ १३॥

अर्थ—हे भामिनि! यदि तुम करिवरगामिनी जनकसुताकी कुछ खबर जानती हो तो कहो॥ १०॥ हे रघुराई! आप पम्पासरपर जाइये, वहाँ आपकी सुग्रीवसे मित्रता होगी॥ ११॥ हे देव! हे रघुवर! वह सब हाल कहेगा। हे धीरबुद्धि! आप सब जानते हुए भी मुझसे पूछते हैं॥ १२॥ बारंबार प्रभुके चरणोंमें माथा नवाकर उसने प्रेमसहित सब कथा सुनायी॥ १३॥

टिप्पणी—१ *'भामिनी'* अर्थात् दीप्तियुक्त, कान्ति छबिसे भरो। *'करिबरगामिनी'* कहा, क्योंकि वनमें रहनेसे हाथीका गमन इसने देखा है—*'संकुल लता बिटप घन कानन। बहु खग मृग तहँ गज पंचानन॥'* (३३। ५) हंसगामिनी न कहा कि कदाचित् इसने हंस न देखा हो तो संदेह होगा कि हंस कैसे चलते हैं।

नोट—१ यहाँ *'करिवरगामिनी'* पद जनकसुताका विशेषण है। एक तरहसे भगवान् श्रीसीताजीका हुलिया देते हैं। यहाँ यह शबरीके लिये सम्बोधन नहीं हो सकता। क्योंकि भगवान् उसमें माताका भाव रखते हैं। माताके गतिसौन्दर्यकी चर्चा यहाँ प्रयोजनीय नहीं है।

नोट—२ 'यदि जानती हो' यह अर्थ अ० रा० के अनुकूल है, यथा—'**यदि जानासि मे ब्रूहि सीता कमललोचना। कुत्रास्ते केन वा नीता**……।' (३। १०। ३२-३३) और स्वाभाविक है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि 'तुम जनकसुताकी सुध जानती हो, कहो'। उसे भक्तिके कारण गुरुद्वारा यह दिव्य ज्ञान था।

नोट—३ चौ० १० के दोनों चरणोंमें एक-एक मात्रा कम है। इससे जनाया कि जनकसुताका स्मरण होते ही विरहभावना जाग्रत् हो गयी, वे गद्गदकण्ठ हो गये। दोहा १७ से ग्रन्थकी समाप्तितक कम-से-कम १३१ चरण ऐसे हैं। यह काव्यदोष नहीं है। ☞ तुलसीकी एक कला है। जहाँसे कथाका संक्षेप प्रारम्भ हुआ है वहाँसे इस कलाका आश्रय लिया गया है। सात्त्विक भावों अथवा भय, आश्चर्यादि भावोंका प्रदर्शन, तालभङ्ग और यतिभङ्ग करके किया गया है। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—२ (क) *'पंपासरहि जाहु रघुराई।'*……' यह शबरीजीने अपने अनुभवसे अथवा अपने गुरुमुखसे सुनी हुई कही। [वा, दर्शनसे सहजस्वरूप प्राप्त होतेही त्रिकालका ज्ञान हो गया। खर्रा—*'रघुराई'* का भाव कि आप भी राजा हैं और सुग्रीव भी राजा है जो वहाँ मिलेगा] (ख) *'जानतहूँ पूछहु मति धीरा'* अर्थात् माधुर्यमें मतिको धीर किये हो, माधुर्यकी मर्यादा रखनेके लिये जानकर पूछते हो। *'देव'* अर्थात्, दिव्य हो, सब जानते हो, वीर और मतिधीर हो, शत्रुको मारोगे।

नोट—४ *'देव'* सम्बोधन अ० रा० में भी है; यथा—'**देव जानासि सर्वज्ञ सर्वं त्वं विश्वभावन। तथापि पृच्छसे यन्मां लोकाननुसृतः प्रभो।**' (३। १०। १४) अर्थात् हे देव! हे सर्वज्ञ! हे विश्वभावन! आप सब जानते हैं। लोकाचारका अनुसरण करते हुए यदि आप मुझसे पूछते हैं तो मैं बतलाती हूँ। श्लोकके पूर्वार्धमें *'देव'* का और उत्तरार्धमें *'रघुबीर'* का भाव है। भाव कि माधुर्यमें आप रघुवीर बने हैं।

नोट—५ *'रघुबीर'* का भाव कि सर्वज्ञ होनेसे विद्यावीरता, सुग्रीवपर दया करके दयावीरता, वालिको मारनेसे युद्धवीरता, दारापहारक राक्षसको दण्ड देकर धर्मवीरता और शत्रुओंको भी सद्गति देकर दानवीरता—पाँचों वीरताएँ प्रकट करेंगे। 'मति धीर' अर्थात् स्थितप्रज्ञ हैं। मिलान कीजिये—*'तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं।'* (४। २)

टिप्पणी—३ *'बारबार प्रभु पद सिरु नाई।'* नवधा भक्ति श्रीमुखसे सुनी। अतः अनेक बार प्रणाम किया। पुनः, यह प्रेमकी दशा है, यथा—*'पद अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा॥'*, *'तब मुनि हृदय धीर धरि गहि पद बारहिं बार'*, *'पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेम कछु जाइ न बरना॥'* वा, कुछ देर ठहरनेके लिये, यथा—*'तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि तुम्हहिं मिलउँ तनु त्यागी॥'* [*'पुनि पुनि पद सरोज सिरु नावा।'* (३४। ९) से उपक्रम किया था और *'बार बार प्रभु पद सिरु नाई'* में उपसंहार करते हैं। (प्रभुके माधुर्यमें कहीं भूल न जाय, इस भयसे उसे त्राहि-त्राहि करना था जैसे हनुमान्‌जीने किया है। यथा—*'चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत।'* (५। ३२)

बारंबार सिर चरणोंमें नवाकर मानो वह *'त्राहि त्राहि भगवंत'* और *'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहि पूछहु रघुराई॥'* (१३। १४) अपने प्रत्येक प्रणामसे कह रही है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—४ *'सब कथा सुनाई'* जो गुरु कहनेको कह गये थे कि दर्शन करके शरीर त्याग देना। (कथा पूर्व ३४। ६ में दी गयी है) [रा० प्र०—कारका भी यही मत है कि यहाँ जानकीजीके समाचारकी कथासे तात्पर्य नहीं है, क्योंकि उसे पहले बता चुकी है कि सुग्रीव कहेगा। अभी कह देनेसे संभव है कि सुग्रीवसे न मिलें, तो सुग्रीवका कार्य कैसे होगा?]

[अ० रा० में सीताहरण और सुग्रीवका बल-पराक्रम और वालिसे भयभीत पम्पासरके निकट ऋष्यमूकपर मन्त्रियोंसहित निवास करना कहा है। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि वाल्मी० (३। ७२) में जो कबंधने सुग्रीवके सम्बन्धमें बताया है कि उसके सख्यसे क्या लाभ होगा, इत्यादि, वही सब कथा यहाँ अभिप्रेत है।]

खर्रा—*'भामिनी करिवरगामिनी'* इति। भामिनी संबोधन देनेका भाव यह भी होता है कि इसे अपनेमें मिला लेना है, और स्त्री अपना रूप है, इसीसे स्त्री कहकर संबोधन किया। गीतावलीमें शबरीको किरातिनी कहा है। क्योंकि वहाँ अपनेमें मिलाना नहीं कहा है, वहाँ केवल धाम देना लिखा है। तात्पर्य कि सायुज्य मुक्ति देनेमें *'भामिनी'* कहा और सालोक्य देनेमें 'किरातिनि' कहा।

नोट—६ गोस्वामीजीने विनयमें कहा है कि शबरीजीको माताके समान और जटायुको पिताके समान माना।—*'मातु ज्यों जल अंजलि दई।'*

☞ *'भामिनी'* शब्दका प्रयोग माताके लिये भी होता है। आर्ष ग्रन्थोंमें भी इसका प्रयोग पाया जाता है। यथा—'**अथ तं सर्वभूताना हृत्पद्मेषु कृतालयम्। श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि॥**' (भागवतमें कपिलवाक्य माताप्रति (३। ३२। ११), पुनश्च यथा वाल्मीकीय—'**न रामेण वियुक्ताशा स्वप्नमर्हति भामिनी॥**' (श्रीमारुति-वाक्य श्रीजानकी-प्रति)

छन्द—कहि कथा सकल बिलोकि हरिमुख हृदय पदपंकज धरे।
तजि जोगपावक देह हरिपद लीन भै जहँ नहिं फिरे॥
नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत सोकप्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी रामपद अनुरागहू॥

अर्थ—सब कथा कहकर, प्रभुके मुखका दर्शन कर, हृदयमें उनके चरणकमलोंको रखे हुए योगाग्निमें देहको त्यागकर वह दुर्लभ हरिपदमें लीन हो गयी, जहाँसे फिर (जीव) लौटते नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं—हे मनुष्यो! अनेक प्रकारके कर्म, अधर्म और बहुत-से मत ये सब शोक देनेवाले हैं, अतः इन सबको छोड़ो और विश्वास करके श्रीरामपदमें प्रेम करो।

नोट—१ अ० रा० में इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—'**भक्तिर्मुक्तिविधायिनी भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य हे, लोकाः कामदुघाङ्घ्रिपद्मयुगलं सेवध्वमत्युत्सुकाः। नानाज्ञानविशेषमन्त्रविततिं त्यक्त्वा सुदूरे भृशं, रामं श्यामतनुं स्मरारिहृदये भान्तं भजध्वं बुधाः॥**' (३। १०। ४४) अर्थात् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी भक्ति मुक्ति-विधान करनेवाली है, अतएव हे मनुष्यो! कामनाके पूर्ण करनेवाले दोनों चरणकमलोंका उत्सुक होकर सेवन करो। हे पण्डितो! अनेक विशेष मन्त्र, ज्ञान आदिको दूरहीसे छोड़कर शंकर-मानसमें विराजमान साँवले श्रीरामचन्द्रजीका अत्यन्त भजन करो।—'**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥**' (भगवद्गीता १८। ६६)

टिप्पणी—१ (क) *'जोग पावक'*=योगाग्नि। (१। ६४। ८) में देखिये। (ख) *'हरि पद लीन भई'*—शबरीजी श्रीरामपदानुरागी थीं; यथा—*'सबरी परी चरन लपटाई'* *'पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा।'* *'सादर जल लै चरन पखारे।'* *'बारबार प्रभु पद सिरु नाई।'* *'हृदय पद पंकज धरे'* अतः 'हरिपदलीन भइ' कहा। इसीसे कवि भी श्रीरामपदमें दृढ़ अनुराग करनेको कहते हैं। यथा—*'बिस्वास करि कह दास तुलसी रामपद*

अनुरागहू।' (ग) *'जहँ नहिं फिरे'* यथा—**'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥'** (गीता ८। २१) **'पन्थानमनिवर्तनम्।'** (भा० ६। ५। २१)

नोट—२ गीताके श्लोकका अर्थ भगवान् श्रीरामानुजाचार्यने यह किया है—'(वह) अव्यक्त अक्षर है, ऐसा कहा गया है, उसीको परमगति कहते हैं। जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते, वह मेरा परमधाम है।' (२१) (व्याख्या)—'इस श्लोकमें परमगति नामसे निर्दिष्ट भी यही 'अक्षर' है अर्थात् प्रकृति-संसर्गसे रहित स्वरूपमें स्थित आत्मा है। इस प्रकार स्वरूपमें स्थित जिस अव्यक्तको प्राप्त करके पुरुष वापस नहीं लौटता, वह मेरा 'परम धाम' है। परम नियमनका स्थान है। अभिप्राय यह है कि एक नियमन स्थान जड़ प्रकृति है, उससे युक्त हुए स्वरूपवाली जीवरूपा प्रकृति दूसरा नियमन स्थान है, और जड़के संसर्गसे रहित स्वरूपमें स्थित मुक्तस्वरूप परम नियमन स्थान है। वह अपुनरावृत्तिरूप है—आवागमनसे रहित है। अथवा यहाँ धाम-शब्द प्रकाशका नाम है, और प्रकाशका तात्पर्य ज्ञानसे है, सो प्रकृतिसे युक्त परिच्छिन्न ज्ञानवाले आत्मासे अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप होनेके कारण मुक्तस्वरूप (मुक्तात्मा) परमधाम है।'

नोट—३ गीतावलीमें रामधाममें जाना कहा है, यथा—*'सिय सुधि सब कही नख सिख निरखि निरखि दोउ भाइ॥ दै दै प्रदच्छिना करति प्रनाम न प्रेम अघाइ॥ अति प्रीति मानस राखि रामहि रामधामहि सो गई।'* और कवितावलीमें प्रभुमें लीन होना कहा है, यथा—*'छलिन की छौंड़ी सो निगोड़ी छोटी जाति पाँति, कीन्हीं लीन आपु में सुनारी भोड़े भील की।'* (७। १८) इससे जान पड़ता है कि 'राम-धाम' को जाना और 'प्रभुमें लीन होना' एक ही बात है।

करुणासिंधुजी—*लीन भई*=प्राप्त हुई। हरिपदको प्राप्त हुई, जिस पदको प्राप्त होकर फिर संसारमें जीव नहीं आते। अथवा, *'हरिपदलीन भई'*= परमपदको प्राप्त हुई। यह अर्थ कि हरिपदमें लय हो गयी, अर्थात् एक हो गयी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वरूपमें लीन होना जहाँ-तहाँ पाया जाता है। परन्तु पदमें लीन होना कहीं नहीं पाया जाता। अतएव 'प्राप्त हुई' अर्थ ठीक है।

प० प० प्र०—भगवान्‌के चरणकमलोंको प्रथम हृदयमें धारण करके तब योगाग्निसे देहको त्याग किया, कुछ भी इच्छा न रही। अतः **'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'** इत्यादिमें धाम शब्द रहनेपर भी *'निज सहज सरूपा'* और *'मुक्त कीन्हि अस नारि'* इन वचनोंसे कैवल्य मुक्ति प्राप्त हुई ऐसा ही अर्थ लेना चाहिये। *'मुक्ति निरादरि भगति लोभाने'* ऐसा यहाँ हुआ ही नहीं, यह *'मुक्त कीन्हि'* से स्पष्ट है। तथापि शब्दोंकी रचना इस कुशलतासे की गयी है कि *'सगुण सायुज्य'* भी लिया जाय। *'हरिपद लीन भई'* *'हृदय पद पंकज धरे'* इन वचनोंका आधार लेकर *'सगुण सायुज्य'* अर्थ विशिष्टाद्वैती कर सकेंगे। मानसमें गीताके समान सब मतोंके स्थान हैं और सभी मतोंकी (आस्तिक, अधिकारभेदसे) आवश्यकता भी है।

नोट—४ *'विविध कर्म'* अर्थात् भगवद्भक्तिसे भिन्न जो भी कर्म हैं वे सब शोकप्रद हैं, वे अधर्मरूप ही हैं। इनसे पापोंका नाश नहीं हो सकता; यथा—*'करतहु सुकृत न पाप नसाहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥'* (वि० १२८) अतः इनको त्यागनेको कहा। *'बहुमत'* अर्थात् मुनियोंमें भी अनेक मत हैं, अनेक मार्ग कहे गये हैं, सबमें झगड़ा ही है। यथा—*'बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो। गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लागत राम राज डगरो सो॥'* (वि० १७३)

टिप्पणी—२ *'नर बिबिध कर्म·······'* इति। (क) *'नर'* सम्बोधनका भाव कि जब ऐसी स्त्रीको मुक्ति दी तब तुम तो नर हो, तुम्हारी मुक्तिमें क्या संदेह है? यह मनुष्योंको उपदेश है। [(ख) यहाँ नरको गति दी है अतः उसी वर्गके समस्त नरोंसे श्रीगोस्वामीजी कहते हैं (रा० प्र० श०)] (ग)*'बिश्वास करि कह दास तुलसी·······'* इति। विश्वास करनेको कहा, क्योंकि *'बिनु बिश्वास भक्ति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।'* विश्वास रखकर कि हम इससे ही कृतार्थ होंगे, श्रीशबरीजी रामपदानुरागिनी थीं हरिपदमें लीन हुई, अतः कहते हैं *'राम पद अनुरागहू।'* रामपदानुराग चौथी भक्ति है। यही पादसेवन भक्ति है। इसमें विश्वास चाहिये, इसीसे

कहा कि विश्वास करके अनुराग करो। विश्वासपर सर्वत्र जोर दिया गया है। क्योंकि बिना इसके मनुष्य दृढ़ होकर भक्ति नहीं कर सकेगा। दृढ़ न होनेसे वह कभी-न-कभी उसे छोड़ देगा। इसीसे बारंबार यह बात कही गयी है। यथा—*'बिश्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥'* (देवस्तुति। ७। १३) *'सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥ रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति रूरी॥'* (७। १२२। ६-७) *'बिनु बिश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।'* (७। ८७) *'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।'* (७। ९०) इत्यादि।

दो०—जाति हीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि।
महामंद मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि॥ ३६॥

अर्थ—जातिहीन, पापकी जन्मभूमि अर्थात् जहाँसे पाप उत्पन्न हुआ करते हैं, ऐसी स्त्रीको भी जिन्होंने मुक्त किया—अरे महामन्द मन! तू ऐसे प्रभुको भूलकर सुखकी चाह करता है (अर्थात् तुझे धिक्कार है)॥ ३६॥

टिप्पणी—१ *'जाति हीन'* से लोकमें नष्ट और अघजन्ममहिसे परलोक नष्ट। अथवा, *'जातिहीन अघजन्ममहि'* और *'नारि'* इनसे कर्मका अधिकार न होना जनाया। (ख) *'मुक्त कीन्हि'* अर्थात् केवल भक्तिसे इसे मोक्ष दिया। ['जातिहीन'; यथा—'**नृपान्यां वैश्यतो जातः सबरः परिकीर्तितः। मधूनि वृक्षादानीय विक्रीणीते स्ववृत्तये॥**' नारदीय। अर्थात् जो वैश्य और क्षत्रियाणीके संयोगसे उत्पन्न हो उसे सबर कहते हैं, वृक्षोंसे मधुको लेकर बेचे और उससे अपनी जीविका करे। (खर्रा)]

प० प० प्र०—१ *अघ जन्म महि*=पापोंको प्रसवन करनेवाली भूमि। काशीको *'मुक्ति जन्म महि'* कहा है। (कि० मं०) भूमिके प्रकृत्यनुसार उसमें अनाज होता है। इस न्यायसे कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो पुण्यजन्म भूमि हैं और कुछ पापजन्मभूमि हैं। चित्रकूटके किरातोंके ही वचन हैं कि *'पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं कटि पट नहिं पेट अघाहीं॥'*, *'सपनेहुँ धर्मबुद्धि कस काऊ।'* अभी-अभी कुछ दिनोंतक परधर्मीय सत्तामें भी कई जातियोंको कानूनसे ही 'गुनहगारी जाति (criminal tribes) समझा जाता था। स्वराज्य होनेपर वह बन्धन निकाल देनेसे अनर्थ भी होने लगे हैं। पूर्व संस्कार-परिस्थिति, रहनी, संगति, शिक्षण, रोजगार इत्यादि अनेक बातोंपर शीलसंवर्धन अवलंबित रहता है। इसीसे *'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा'* कहा गया है, क्योंकि *'सठ सुधरहिं सत संगति पाई।'*

नोट—१ इस दोहेसे मिलता-जुलता श्लोक यह है—'**किं दुर्लभं जगन्नाथे श्रीरामे भक्तवत्सले। प्रसन्नेऽधमजन्मापि सबरी मुक्तिमाप सा॥ किं पुनर्ब्राह्मणा मुख्याः पुण्याः श्रीरामचिन्तकाः। मुक्तिं यान्तीति तद्भक्तिर्मुक्तिरेव न संशयः॥**' (अ० रा० ३। १०। ४२-४३) अर्थात् भक्तवत्सल जगन्नाथ श्रीरामके प्रसन्न होनेपर क्या दुर्लभ है! (देखो, उनकी कृपासे) नीच जातिमें उत्पन्न हुई शबरीने भी मोक्षपद प्राप्त कर लिया। फिर भला श्रीरामजीका चिन्तन करनेवाले पुण्यजन्मा ब्राह्मणादि यदि मुक्त हो जायँ तो इसमें क्या आश्चर्य है? निस्संदेह श्रीरामजीकी भक्ति ही मुक्ति है।-यही सब भाव पूर्वार्धका है। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है कि मेरा आश्रय लेकर स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र अथवा जो भी कोई पापयोनि हों, वे भी परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं फिर पुण्ययोनिब्राह्मणों और राजर्षिभक्तोंके लिये तो कहना ही क्या? यथा—'**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ किं पुनर्ब्राह्मणा पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।**' (गीता ९। ३२-३३)

टिप्पणी—२ '**महामंद मन**.......' इति। भाव कि ऐसे भक्तवत्सल प्रभुकी भक्तिको छोड़कर, प्रभुसे विमुख होकर जो सुख, शान्तिकी चाह करे, वह महानीच बुद्धिवाला है। श्रीरामभक्ति ही शाश्वत सुखको देनेवाली है। यही भुशुण्डिजीने कहा है। यथा—*'श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥ कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा॥ फूलहिं नभ बरु बहु बिधि*

फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥ तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥ अंधकारु बरु रबिहि नसावै। रामबिमुख न जीव सुख पावै॥ हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥ बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल। बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥' (७। १२२)—यह *'महामंद! सुख चहसि'* की ही पूरी व्याख्या समझिये। पुनः *'महामंद'* का भाव कि तू मूर्ख है, जड़-बुद्धि है, शठ है जो ऐसा समझता है कि अन्य साधनसे सुख मिलेगा। यथा—*'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥ ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजन आकु फिरहिं पय लागी॥ सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥'* (७। ११५)

'सबरी गति दीन्ही'-प्रसंग समाप्त हुआ।

'बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा।' (कामिन्ह कै दीनता देखाई) प्रकरण

चले राम त्यागा बन सोऊ। अतुलित बल नर केहरि दोऊ॥ १॥
बिरही इव प्रभु करत बिषादा। कहत कथा अनेक संबादा॥ २॥
लछिमन देखु बिपिन कइ सोभा। देखत केहि कर मन नहिं छोभा॥ ३॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने उस वनको भी छोड़ा और आगे चले। दोनों भाई अतुल बलवान् और मनुष्योंमें सिंहके समान हैं॥ १॥ प्रभु विरहीकी तरह दुःख कर रहे हैं तथा अनेक (विरह विषादके) संवादकी कथाएँ कहते हैं॥ २॥ हे लक्ष्मण! वनकी शोभा देखो। उसे देखकर किसका मन विचलित न होगा?॥ ३॥

नोट—१ *'चले'* शब्दसे नये प्रकरणका आरम्भ जनाया। श्रीरघुवीर-विरह-प्रकरणमें पंचवटीसे चलनेपर *'पूछत चले लता तरु पाँती'* कहा, बीचमें जटायुको गति देनेको रुके। वहाँसे *'चले बिलोकत बन बहुताई।'* कबन्धको गति देकर फिर *'सबरीके आश्रम पगु धारा।'* अब वहाँसे पम्पासरको चले, अत: *'चले राम·······'* कहा। यहाँ प्रभु-नारदका संवाद होगा।

टिप्पणी—१ *'त्यागा बन सोऊ'* इति। यहाँ वन-विभाग दिखाते हैं। (१) गङ्गातटसे अत्रिके आश्रमतक एक वन है; यथा—*'तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु नाइ सुरसरिहि माथ। सखा अनुज सिय सहित बन गवनु कीन्ह रघुनाथ॥'* (२। १०४) और *'कहेउँ रामबन गवनु सुहावा।'* (२। १४२। ४)

(२) अब दूसरा वन दिखाते हैं; यथा—*'तब मुनि सन कह कृपानिधाना। आयसु होइ जाउँ बन आना॥'* (३। ६। २) *'चले बनहिं सुर नर मुनि ईसा।'* (३। ७। १) यह विराधवाला वन है, इसीमें शरभङ्गजी थे। महर्षि अत्रिजीके आश्रमके पश्चात् शरभङ्गाश्रमतक यह वन है।

(३) तीसरा वन, यथा—*'पुनि रघुनाथ चले बन आगे।'* (९। ५) यह वन शरभङ्ग ऋषिके आश्रमके आगे अगस्त्याश्रमतकवाला है।

(४) चौथा *'दंडकबन पुनीत प्रभु करहू।'* (१३। १६) यह दण्डकवन है। इसीमें पंचवटी और जनस्थान हैं।

(५) आगे बहुत अधिक और गहन वन मिले, यथा—*'चले बिलोकत बन बहुताई।'* यहाँ क्रौंचवनके आगे कबन्धवाला वन था, उसके आगे मतंगवन था, जिसमें शबरीजीका आश्रम था।

(६) *'चले राम त्यागा बन सोऊ'* अर्थात् मतंगवनसे आगे पम्पावाले वनमें गये।

टिप्पणी—२ *'अतुलित बल नर केहरि दोऊ'* अर्थात् दोनों ही पुरुषसिंह और अतुलित बली हैं, तथापि (श्रीरामजी) विरहीकी तरह विलाप करते हैं। पुनः, ऐसे घोर वनमें मनुष्यकी सामर्थ्य नहीं है कि आ सके, उसमें ये दोनों विचर रहे हैं, क्योंकि दोनों *'अतुलित बल·······'* हैं। पुनः, भाव कि एक ही सिंह वनके सभी जीवोंके लिये बहुत होता है, एक ही विश्व-विजयको बहुत है और ये तो दो हैं तब इनका क्या कहना? पुनः, वनमें निर्भय विचरणसे *'केहरि'* कहा। पुनः, सिंहका आनन्द वनमें ही है और ये

तो अतुलित बली हैं; अतएव इन्हें गहरे-से-गहरे वनमें पहुँचकर भी आनन्द-ही-आनन्द है।

प्र०—*'बिरही इव'* पद देकर उनको विरहीसे भिन्न जनाया। अतएव भाव यह हुआ कि श्रीसीताजीसे रामका वियोग ही नहीं हुआ। यदि कहो कि जानकीजी तो अग्निमें निवास करती हैं तब वियोग कैसे नहीं हुआ? तो उसका समाधान यह है कि अग्नि तो श्रीरघुनाथजीके शरीरका तेज विशेष है, भिन्न नहीं है। बालकाण्डमें *'नर इव'* पद दिया था। मिलान करो *'बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥ कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुख ताकें॥ अति बिचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान। जे मतिमंद बिमोह बस हृदय धरहिं कछु आन॥'* (१। ४९) *'एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहु महा बिरही अतिकामी॥'* (३०। १६) इन प्रसङ्गोंमें जो भाव *'नर इव'* *'मनहु महा बिरही'* के दिये गये हैं वही यहाँ हैं।

टिप्पणी—३ *'कहत कथा'* अर्थात् अनेक विषादके संवादकी कथाएँ कहते हैं, जैसे नल, पुरूरवा आदिकी। [अथवा वन-शोभा, वसन्तवर्णन यही कथाएँ हैं और मृग-मृगीका संवाद है। (प० प० प्र०)] *'देखत केहि कर मन नहिं छोभा'* अर्थात् किसको कामोद्दीपन नहीं होता।

नोट—२ वाल्मी० और अ० रा० में शबरीजीके आश्रमसे चलनेपर मन प्रसन्न है, विरह-विलाप नहीं है।

नारि सहित सब खग मृग बृंदा। मानहुँ मोरि करतहहिं निंदा॥ ४॥
हमहि देखि मृगनिकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥ ५॥
तुम्ह आनंद करहु मृग जाए। कंचनमृग खोजन ए आए॥ ६॥

अर्थ—सब पक्षी पशुओंके झुंड स्त्रीसहित हैं, मानो वे मेरी निन्दा कर रहे हैं (अर्थात् तुम भी यदि अपनी स्त्रीको इसी तरह साथ रखे होते तो यह विषाद क्यों करना पड़ता)॥ ४॥ हमें देखकर जब मृगोंके झुंड भागते हैं तब मृगियाँ कहती हैं कि मृगपुत्रो! तुमको डर नहीं (तुम न भागो)॥ ५॥ तुम तो मृगसे पैदा हुए हो अतः तुम आनन्द करो। ये तो सोनेके मृगको खोजने आये हैं॥ ६॥

प० प० प्र०—१ *'मोरि करतहहिं निंदा'* इति। इसमें पश्चात्ताप है कि कनक-मृगके लिये न जाता तो निन्दा क्यों करते। नारी विवश होकर *'नट-मर्कटकी नाईं'* नाचनेसे ऐसी निन्दा सुननेका पात्र बनना पड़ता है। यह उपदेश है। यहाँ दोनों चरणोंके यमकमें विषमताद्वारा जनाया कि कहाँ क्षुद्र पशु-पक्षी और कहाँ रघुवीर, ऐसा अपार अन्तर होनेपर भी बड़े भी निन्दाका पात्र होते हैं। मृगछालाका लोभ ही निन्दाका हेतु है—*'अल्प लोभ भल कहै न कोई।'*

प० प० प्र०—२ *'हमहिं देखि मृग·······'* इति। पूर्व चरणमें *'मोरि'* कहा और यहाँ *'हमहिं'*। *'हमहिं'* से श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंका बोध होता है। यद्यपि लक्ष्मणजी कञ्चनमृगके लिये नहीं गये फिर भी श्रीरामजीके संग होनेसे वे भी निन्दाका विषय हो गये। इससे उपदेश देते हैं कि निन्दापात्र व्यक्तिकी संगतिमें रहनेवाले भी निन्दाका विषय हो जाते हैं। देखिये, पहले मृग रामबटोहीको देखकर खड़े होकर एकटक देखा करते थे, यथा—*'अवनि कुरंग, बिहँग द्रुम डारन रूप निहारत पलक न प्रेरत। मगन न डरत निरखि कर कमलनि सुभग सरासन सायक फेरत।'* (गी० २। १४), आज भागते हैं यह विपरीत बात कैसी? इसका कारण है *'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन।'* विषयी, स्त्री-विवश लोगोंको उपदेश देनेके लिये सब अघटित लीला करते-कराते हैं।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—१ *'नारि सहित·······निंदा'* इति। पहले कह आये हैं कि *'कहत कथा अनेक संबादा।'* पहले कथा आरम्भ हुई। प्रभु कहते हैं कि देखो लक्ष्मण! जितने पक्षी हैं, वे सब अपने जोड़ेके साथ हैं। मृगगण भी मृगीके साथ हैं। कोई भी तो बिना स्त्रीके नहीं है। मनुष्य होकर मैं स्त्रीरहित हूँ। मुझे मालूम होता है, मानो वे हमारी निन्दा करते हैं कि हमलोगोंने पशु-पक्षी होकर अपनी-अपनी स्त्रीकी रक्षा की है और ये मनुष्य होकर भी रक्षा न कर सके। इतना ही नहीं, मानो मृगी भी मेरे अज्ञानपर व्यङ्गोक्ति कर रही है; यथा—*'कंचन मृग खोजन ये आए।'*

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—२ *'हमहिं देखि········खोजन ये आए'* इति। हमें धनुर्बाण धारण किये हुए देखकर मृग भाग चलते हैं। मृगी कहती हैं कि मत भागो। इसपर प्रश्न उठता है कि क्यों न भागें? इस महावनमें ये धनुर्धर अन्य अहेरियोंकी भाँति मृग ही न खोज रहे हैं; अतः हमलोगोंको भय उपस्थित हुआ है। अतएव न भागनेका कोई कारण नहीं। इसपर मृगी कहती है कि तुम तो मृगसे उत्पन्न हो, तुम्हें भय नहीं है, तुम भय न करो। ये तो सोनेका मृग खोजने आये हैं, जिसका कि जन्म मृगजातिमें असम्भव है। और भी बात है, हाथी मानो मुझे नीतिशास्त्रानभिज्ञ समझकर शिक्षा दे रहे हैं।

टिप्पणी—१ *'हमहिं देखि मृगनिकर पराहीं।'*········' इति। हरिण लोगोंको देखकर भागते हैं फिर कुछ दूरपर खड़े हो जाते हैं और पीछे देखते हैं, यह मृगका स्वभाव है। इन दोनों स्वभावोंपर दो बातें लिखते हैं, एक तो *'हमहिं देखि'*········' और दूसरी *'मृगी कहहिं'।* अर्थात् पहले देखकर भागते हैं कि हमको मारेंगे, जब हरिणी कहती है कि तुम न डरो तब खड़े हो जाते हैं।

पं० रा० चं० शुक्ल—१ दूसरोंका उपहास करते तो आपने बहुत लोगोंको देखा होगा, पर कभी आपने मनुष्यकी उस अवस्थापर भी ध्यान दिया है जब वह पश्चात्ताप और ग्लानिवश अपना उपहास आप करता है? गोस्वामीजीने उसपर भी ध्यान दिया है। उनकी अन्तर्दृष्टिके सामने वह अवस्था भी प्रत्यक्ष हुई है। सोनेके हिरनके पीछे अपनी सोनेकी सीताको खोकर राम वन-वन विलाप करते फिरते हैं। मृग उन्हें देखकर भागते हैं और फिर जैसा कि उनका स्वभाव होता है थोड़ी दूरपर जाकर खड़े हो जाते हैं। इसपर राम कहते हैं *'हमहिं देखि मृगनिकर पराहीं'*·····' कैसी क्षोभपूर्ण आत्मनिन्दा है।

यहाँ एक और बात ध्यान देनेकी है। कविने मृगोंके ही भयका क्यों नाम लिया? मृगियोंको भय क्यों नहीं था? बात यह है कि आखेटकी यह मर्यादा चली आती है कि मादाके ऊपर अस्त्र न चलाया जाय। शिकार खेलनेवालोंमें यह बात प्रसिद्ध है। यहाँ गोस्वामीजीका लोक-व्यवहार परिचय प्रकट होता है।

टिप्पणी—२ *'तुम्ह आनंद करहु मृग जाए।'* अर्थात् तुम मृगसे उत्पन्न हुए हो और ये उसको ढूँढ़ते हैं जो मृगसे पैदा न हुआ हो। अर्थात् जो कपटसे मायाका मृग बनकर आते हैं उनका ये शिकार करते हैं। *'मृग जाये'* में लक्षणामूलक अगूढ़ व्यंग्य है। कञ्चन-मृगसे जनाया कि ऐसे लोभी हैं कि कञ्चनके लिये स्त्री गवाँ दी। कञ्चन देकर स्त्रीको बचाना चाहिये और इन्होंने उलटा किया। यह उपदेश स्त्रियाँ दे रही हैं।

दीनजी—यहाँ *'कंचन मृग खोजन'* में मृगियोंका ताना तो है ही कि ऐसे बुद्धिहीन हैं कि सोनेके मृगके पीछे दौड़े। यह नहीं जानते कि सोनेके हिरन नहीं होते। '**असम्भवं हेममृगस्य जन्म तथापि रामो लुलुभे मृगाय।**' पण्डित लोग ऐसा भी अर्थ करते हैं 'मृ' (=मट्टी)+'ग' (=चलनेवाला) अर्थात् सोनेकी पृथ्वीपर चलनेवाले रावणको ये ढूँढ़ते हैं।

प० प० प्र०—भगवान् इस चरितसे हमें उपदेश करते हैं कि सोनेका मृग नहीं होता। मैं एक बार उसके पीछे दौड़ गया जिससे मेरी निन्दा पशु-पक्षी करते हैं और आप सब पण्डित भी करते होंगे। पर जरा विचार तो कीजिये कि अनेकों कल्पोंसे आप अनेक योनियोंमें भ्रमते आये, सुर-दुर्लभ मनुष्य शरीर आपको मिला तब भी विषयरूपी मिथ्या मृगजलके पीछे आप दिन-रात दौड़ते हैं। जैसे सोनेका मृग असम्भव है वैसे ही *'धन दार अगार'* आदि समस्त विषयोंमें सुख असम्भव है। विषयोंके पीछे दौड़ते रहनेसे तुम्हारे *'मानुष तन गुन ज्ञान निधाना'* की निन्दा होगी।

संग लाइ करिनी करि लेहीं। मानहु मोहि सिखावनु देहीं॥ ७ ॥
सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ॥ ८ ॥
राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं॥ ९ ॥
देखहु तात बसत सुहावा। प्रियाहीन मोहि भय उपजावा॥ १०॥

अर्थ—हाथी हथिनियोंको साथ लगा लेते हैं* वे मानो मुझे शिक्षा देते हैं (कि इस प्रकार स्त्रीको साथ रखना चाहिये था)॥ ७॥ अच्छी तरह मनन किये हुए शास्त्रको भी बराबर देखना चाहिये। भली प्रकारसे सेवा किये हुए राजाको भी वशमें न समझिये॥ ८॥ स्त्रीकी सदा रक्षा (रखवाली) करते रहना चाहिये चाहे वह हृदयमें ही रहती हो क्योंकि स्त्री, शास्त्र और राजा किसीके भी वशमें नहीं रहते†॥ ९॥ हे तात! सुन्दर वसन्त-ऋतुको देखो। प्यारी सीताजीके बिना यह मुझे भय उत्पन्न कर रहा है॥ १०॥

नोट—१ *'राखिय नारि जदपि उर माहीं।'* का यही (उपर्युक्त) अर्थ बाबा हरिहर प्रसादजी और प्राचीन महानुभावोंने किया है। यह अर्थ शुक्रनीतिके अनुकूल भी है। यथा—'**शास्त्रं सुचिन्तितमथोपरिचिन्तनीयम् आराधितोऽपि नृपतिः परिशङ्कनीयः। क्रोडे स्थितापि युवतिः परिरक्षणीया शास्त्रे नृपे च युवतौ च कुतो वशित्वम्॥**' अर्थात् खूब चिन्तवन किये या विचारे हुए शास्त्रको फिर भी विचार करते रहना चाहिये, राजा भली प्रकार विधिवत् सेवा किया गया हो तो भी उससे शङ्कित ही रहना योग्य है और स्त्री गोदमें भी की हुई क्यों न हो तो भी वह रक्षा किये जाने योग्य है। शास्त्र, राजा और स्त्रीपर किसका वश है? भाव कि इनसे जरा भी चूकना वा असावधान रहना उचित नहीं।

आधुनिक टीकाकारोंने यह अर्थ किया है कि 'चाहे स्त्रीको हृदयमें रखिये तो भी········'। *'पुनि पुनि देखिअ'*, *'बस नहिं लेखिय'* के योगसे *'राखिय नारि'* का उपर्युक्त अर्थ ठीक है। श्लोकके '**परचिन्तनीया**' '**परिशंकनीया**' और 'परिरक्षणीया' के ही यहाँके तीनों पद प्रतिरूप या अनुवाद ही समझने चाहिये।

नोट—२ ☞ यहाँपर अवसर प्राप्त होनेपर कविने उपर्युक्त नीतिके वचनका अनुवाद ही रख दिया है। पर मूलसे अधिकता अनुवादमें है। इसमें वशमें न रहनेवालोंमें पहिला नम्बर (प्रथम स्थान) युवतीको दिया है और मूलमें युवतीका नम्बर तीसरा है। (वि० त्रि०)

मा० म०—स्त्री, शास्त्र, नृपको अपने वशमें न समझना चाहिये। उदाहरण ये हैं—पिता दशरथमहाराजकी आज्ञापालनके लिये वनवास करना पड़ा अर्थात् राजा विश्वसनीय नहीं होता, क्योंकि उसने पुत्रके साथ भी ऐसा बर्ताव किया। वसंत भी राजा है, दुःख देता है। वेद शास्त्र भी अभ्यास बिना संग त्याग देता है अर्थात् विस्मरण हो जाता है, यद्यपि भली-भाँति अध्ययन किया हुआ है। और, स्त्रीका विरह-दुःख प्रत्यक्ष ही है; अतएव इन तीनोंको वशमें न समझना चाहिये।

नोट—३ (क) पहले कहा कि हाथी मानो शिक्षा देते हैं फिर चार चरणोंमें उस शिक्षाका स्वरूप कहा है खग-मृग छोटे हैं, अतः उनका निन्दा करना कहा। हाथी बड़े हैं, अतः उनका उपदेश देना कहा। (शिला) यह उपदेश पुरुष देते हैं कि तुम्हारे तो हाथ हैं, हाथ पकड़े चलते तो कैसे जाती। (ख) यहाँ दिखाया कि कोई शिक्षा देते हैं, कोई लोभी आदि कहकर निन्दा करते हैं और कोई भय देते हैं। (ग) *'बसंत सुहावा।'* सुहावा कहकर दुःखदायी जनाया, क्योंकि विरहीको सुहावनी वस्तु भयदायक होती हैं। भय यह भी कि बिना हमारे सीताजी वसन्तमें कैसे रह सकेंगी। यथा—'**श्यामा पद्मपलाशाक्षी मृदु पूर्वाभिभाषिणी। नूनं वसन्तमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम्॥**' (वाल्मी० ४। १। ५०) *'भय उपजावा'* इसका कारण आगे कहते हैं कि *'बिरह········बगमेल।'*

वि० त्रि०—*'देखहु तात·····उपजावा'* इति। भाव कि प्रियाके साथमें वसन्त कैसा सुखद था—मैं

* १ युवती, शास्त्र और नृपति तीनोंका एक ही धर्म 'बस नहिं लेखिअ' कहना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है। सुहावना होकर भय पैदा करनेमें 'प्रथम व्याघात' अलंकार है। प्यारीके बिना ऐसा होना 'प्रथम विनोक्ति' है। २ 'जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं' में क्रम भंगयथासंख्य है। (दीनजी)

† १ र० ब०—'संग लाइ········मानहुँ········'। अपनी अवस्थाके समान जहाँ औरोंको उपदेश देना कथन किया वह निदर्शना अलंकारका दूसरा भेद है। वही अलंकार यहाँ है। इस उदाहरणके उत्तरार्द्धमें 'मानहु' शब्द होते हुए भी उत्प्रेक्षा नहीं है क्योंकि हाथी-हथिनीकी समकल्पना इसमें नहीं कथन की गयी, केवल शिक्षाका आरोपण किया है। २ बार०—शिक्षाकी कल्पना 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है।

फूलोंका गहना बनाकर प्रियाका शृङ्गार करता था। यथा—'*एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए॥ सीतहि पहिराए प्रभु सादर।*' (३। १। ३-४) वही सुहावना वसन्त प्रियाहीन होनेसे मुझे भयप्रद हो गया है—'*मो कहँ सकल भये बिपरीता।*'

दीनजी—वसन्त आदि कामोद्दीपक पदार्थोंको देखकर कुछ भय होता है, यह वियोगकी दस दशाओंमेंसे एक दशा

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०

है। [दस दशाएँ, यथा—'**अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च। उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिव**

९ १०

दशात्र कामदशाः॥' (साहित्यदर्पण) अर्थात् अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, संप्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृत्यु—ये कामकी दस दशाएँ हैं। (वाल्मी० ४। १) में पंपासरपर वन, पक्षी और वसन्तकी शोभा देखकर जो श्रीरामजीने लक्ष्मणसे कहा है वह सब '*भय उपजावा*' की व्याख्या जानिये।]

प० प० प्र०—१ '*भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ*' अर्थात् भूप वशमें है ऐसा मान लेनेपर भी वह भाग्यसे अधिक नहीं देगा; यथा—'**तुष्टो हि राजा यदि सेवकेभ्यो भाग्यात्परं नैव ददाति किंचित्।**' [साधारणतः इसका आशय यही है कि राजा कितने ही मित्र क्यों न हों, पर थोड़ेहीमें वे शत्रु हो जाते हैं, प्राण ही ले लेते हैं, उनकी मित्रता वा प्रसन्नतापर विश्वास न करना चाहिये।] '*जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीं*' से सूचित किया कि सीताजी रावणके वशमें नहीं होंगी।

प० प० प्र०—२ '*प्रिया हीन मोहि भय उपजावा*' से सूचित किया कि 'सती पतिव्रता पत्नीसहित' होनेपर कामदेव भयका निर्माण नहीं करता। प्रिय पत्नीके सहायसे कामदेवपर विजय-सम्पादन करनेके लिये ही गृहस्थाश्रमका स्वीकार है।

दो०—बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल॥
देखि गएउ भ्रातासहित तासु दूत सुनि बात।
डेरा कीन्हेउ मनहु तब कटकु हटकि मनजात॥ ३७॥

अर्थ—मुझे विरहसे व्याकुल, निर्बल और बिल्कुल अकेला जानकर कामदेवने वन, भौंरों और पक्षियोंसहित उसपर चढ़ाई की (धावा किया)। परन्तु जब उसका दूत पवन मुझे भाईसहित (अर्थात् अकेला नहीं) देख गया, तब मानो उसकी बात सुनकर कामदेवने सेनाको रोककर डेरा डाल दिया॥ ३७॥

नोट—१ (क) '*बिरह बिकल बलहीन*'— विरहसे व्याकुल मनुष्यकी बुद्धि और शरीर दोनों क्षीण हो जाते हैं, वह कर्तृत्व और उत्साहहीन हो जाता है। (प० प० प्र०) '*निपट अकेल*' अर्थात् प्रियाके साथ ही वह मुझे सदा पाता था, अतः उसका वश न चलता था, उनके न रहनेसे वह समझता था कि अब तो बिलकुल अकेले हैं। पूर्व लक्ष्मणजी प्रायः विहारस्थल एवं प्रभुकी कुटीसे कुछ दूर रहा करते थे। अतः वह समझा कि बिल्कुल अकेले होंगे। पूर्वकी तरह भाई श्रीलक्ष्मणजी साथ न होंगे। (ख) '*सहित बिपिन मधुकर खग*' इति। भाव कि कामी-विरही लोगोंमें भ्रमरकी गुञ्जार, पक्षियोंकी बोली और उनके रंग-रूप-अङ्ग आदिकी सुन्दरता ये सभी विरह और कामको उद्दीपन करनेवाले होते हैं, उनसे वियोगीका विरह-विषाद बढ़ता है। (ग) बगमेल—दोहा १८ देखिये।

वि० त्रि०—भाव कि कामसे मेरी अनबन बहुत दिनोंसे चली आती है। पुष्पवाटिकामें भी इसने विजयके लिये दुन्दुभी दी थी, पर कुछ कर न सका, विश्वविजय की कीर्ति मुझे मिल गयी। यथा—'*बिस्व बिजय जसु जानकि पाई*', तबसे जानकीका विरह कभी हुआ नहीं। अतः इसका घात न बैठा। आज मुझे विरह-विकल और अकेला जानकर अपने मित्र वसन्तके साथ मुझपर चढ़ाई करनेकी धृष्टता की है।

टिप्पणी—१ (क) जहाँ कामकी चढ़ाई होती है वहाँ वसन्त सेनासहित साथ रहता है। यथा—*'तेहि आश्रमहि मदन जब गयऊ। निज माया बसंत निरमयऊ॥ कुसुमित बिबिध बिटप बहुरंगा। कूजहिं कोकिल गुंजहि भृंगा॥ चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। काम कृसानु बढ़ाव निहारी॥'* (१। १२६। १—३) *'भूप बागुबर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लोभाई॥ लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥ नव पल्लव फल सुमन सुहाए॥ निज संपति सुररूख लजाए॥ चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा॥''''''मानहु मदन दुंदुभी दीन्हीं॥'* (१। २२७—२३०) तथा यहाँ *'देखहु तात बसंत सुहावा। प्रियाहीन मोहि भय उपजावा॥'* और *'बिरह-बिकल''''''* कहा। (ख) *'मदन कीन्ह बगमेल।'* भाव कि जैसे किसी राजाको निर्बल देख दूसरा उसके ऊपर चढ़ाई करता है वैसे ही मानो मुझे बलहीन और अकेला जान कामने चढ़ाई की, ऊपर चढ़ ही आया था पर जब उसे मालूम हुआ कि मेरे साथ एक बड़े प्रबल साथी हैं जिनसे वह जय नहीं पा सकता तब वहीं रुक गया। (ग) *'देखि गएउ भ्राता सहित''''*—इससे व्यावहारिक नीतिकी शिक्षा देते हैं कि साथ में दूसरेके रहनेपर काम प्रबल नहीं होने पाता, अकेले में वह अपना पूरा प्रभाव डालता है। *'तासु दूत सुनि बात।'* दूत यहाँ पवन हैं; यथा—*'त्रिबिधि बयारि बसीठी आई।'* बसीठी दूतद्वारा होती है; यथा—*'गएउ बसीठी बीरबर जेहि बिधि बालिकुमार।'* (७। ६७) (घ) बसीठी भेजनेमें 'बयारि' शब्द दिया जो स्त्री वाचक है क्योंकि स्त्रीद्वारा पुरुष शीघ्र कामके वश होता है। (ङ) 'मन जात' मनसे उत्पन्न है; सो लक्ष्मणजीके मनसे कामकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। पूर्व जो कहा है कि *'बिरही इव प्रभु करत बिषादा'* वही दिखाते जा रहे हैं।

बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी॥ १ ॥
कदलि ताल बर धुजा पताका। देखि न मोह धीर मन जाका॥ २ ॥
बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना॥ ३ ॥
कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाये। जनु भट बिलग बिलग होइ छाए॥ ४ ॥
कूजत पिक मानहु गज माते। ढेक महोख ऊँट बिसराते॥ ५ ॥
मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी॥ ६ ॥
तीतिर लावक पदचर जूथा। बरनि न जाइ मनोज बरूथा॥ ७ ॥
रथ गिरि सिला दुंदुभी झरना। चातक बंदी गुनगन बरना॥ ८ ॥
मधुकर मुखर भेरि सहनाई। त्रिबिधि बयारि बसीठी आई॥ ९ ॥
चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हें। बिचरत सबहि चुनौती दीन्हें॥ १० ॥

शब्दार्थ—**ढेक**=पानीके किनारे रहनेवाली एक चिड़िया जिसकी चोंच और गरदन लम्बी होती है। **महोख**—यह पक्षी कौएके बराबर होता है। विशेषकर उत्तरी भारतमें झाड़ियों और बँसवाड़ियोंमें मिलता है। चोंच, पैर और पूँछ काली, आँखें लाल और सिर, गला और डैने खैरे रंगके या लाल होते हैं। यह कीड़े-मकोड़े खाता है। बोली तेज और लगातार होती है। **बिसरात** (सं० वेशर)=खच्चर।

अर्थ—बड़े-बड़े वृक्षोंमें लताएँ लपटी हुई हैं, मानो अनेक तंबू तान दिये गये हैं॥ १॥ सुन्दर केले और ताड़ (के वृक्ष) ध्वजा पताका हैं। इन्हें देखकर जिसका मन मोहित न हो वही धीर पुरुष है॥ २॥ अनेकों वृक्ष अनेक प्रकारसे फूले हुए हैं, मानो बहुत-से बाना धारण किये हुए बानेबंद बने सुशोभित हैं॥ ३॥ कहीं-कहीं सुन्दर वृक्ष शोभा दे रहे हैं मानो योद्धा हैं जो (सेनासे) अलग-अलग होकर छावनी डालें हैं अर्थात् ठहरे हैं॥ ४॥ कोयलें कूकती हैं। वही मानो मतवाले हाथी चिंघाड़ते हैं। ढेक पक्षी और महोख मानो ऊँट और खच्चर हैं अर्थात् ढेक और महोखका शब्द ऐसा जान पड़ता है मानो ऊँट और

खच्चर शब्दकर रहे हैं॥५॥ मोर, चकोर, तोते, कबूतर और हंस ये सब सुन्दर उत्तम ताजी (अरबी) घोड़े हैं॥६॥ तीतर और लवाके झुंड पैदल सिपाहियोंका झुंड है। कामदेवकी सेनाका वर्णन नहीं हो सकता॥७॥ पर्वतकी शिलाएँ (चट्टानें) रथ हैं। पानीके झरने नगाड़े हैं। चातक (पपीहा) भाट हैं जो गुणगण (विरदावलि) वर्णन कर रहे हैं॥८॥ भौंरोंकी गुञ्जार (बोली) भेरी और शहनाई हैं, शीतल, मंद, सुगन्ध तीनों प्रकारकी आती हुई वायु दूतका आना है॥९॥ इस तरह चतुरंगिनी सेना साथ लिये हुए काम मानों सबको चुनौती देता (ललकारता) हुआ विचर रहा है॥१०॥

टिप्पणी—१ *'कदलि ताल।'* केला छोटा होता है, ताड़ बड़ा, वैसे ही ध्वजा छोटा और पताका बड़ा।

टिप्पणी—२ *'जनु बानैत बने बहु बाना'* इति। सिपाही अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण किये रहते हैं, जैसे धनुष बाण, खड्ग, शक्ति, त्रिशूल आदि। उनके अनेक रंग-रंगके पृथक्-पृथक् यूथ होते हैं। अनेक प्रकारकी वर्दियाँ होती हैं, इत्यादि भावसे *'बने बहु बाना'* कहा। [फूल बाण हैं। (करु०)]

टिप्पणी—३ (क) काली कोयल रसालपर बैठी है, वसन्त है, बौर फूल रहा है, यह बौर ही मानों सोनेकी सीकड़ (जंजीर) है। पवन लगनेसे आम्रपल्लवके साथ ही साथ वह हिलती है, अतः उसे 'गज माते' कहा। (ख) पारावत और मराल ये झुंड-के-झुंड साथ रहते हैं। (ग) यहाँ सेना पड़ी हुई है। इसीसे रथको गिरि शिला कहा (अचल)। (घ) यहाँ प्यादा, पैदल न कहकर 'पदचर' साभिप्राय पद दिया है। तीतर और लावक पदसे बहुत चलते हैं, अतएव 'पदचर'—पद दिया। अर्थात् जो पैरसे चले। (खर्रा)

टिप्पणी—४ *'चातक बंदी गुनगन बरना'* इति। यह कामका क्या गुणगण कहता है? चातक 'पिय-पिय' कहता है अर्थात् तुम सबको प्रिय हो क्योंकि सुन्दर हो, सुखरूप हो; यथा—*'समुझि कामसुख सोचहिं भोगी।'* (१। ८७) पुनः, कहता है कि पिय हो अर्थात् सबके पति तुम ही हो, तुमसे ही सबकी उत्पत्ति है। यथा—**'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः।'** (गीता १०। २८) (अर्थात् उत्पत्तिका कारण काम भी मैं हूँ) बन्दी गुणगण वर्णन करते हैं; यथा—*'बंदी बेद पुरानगन कहहिं बिमल गुन ग्राम।'* (२। १०५) वेद-पुराण प्रयागका यश गाते हैं और चातक कामका गुण गाते हैं।

टिप्पणी—५ हमको देखकर पहले कामने डेरा डलवा दिया; यथा—*'देखि गयउ भ्रातासहित तासु दूत सुनि बात। डेरा कीन्हेउ.......।'* अब वहाँसे हमारे यहाँ बसीठी लाया—*'त्रिबिधि बयारि बसीठी आई।' 'आई'* अर्थात् वहाँसे कामके पाससे चलकर आयी है कि चलकर कामकी शरण हो; यथा—*'चली सुहावनि त्रिबिधि बयारी। काम कृसानु बढ़ावनि हारी॥'* (१। १२६। ३) तात्पर्य कि त्रिविध हवा लगनेसे कामोद्दीपन होता है। कामकी सेना पञ्चविषययुक्त है, इसीसे सबको विषयी कर देती है। (३९ (३) देखो।)

टिप्पणी—६ (क) *'चतुरंगिनी सेन'*—गजमातेसे 'गजदल', 'बर बाजी' से घोड़े (अश्वदल), 'तीतर' आदि पदचर और 'गिरिसिला' रथ। ये चारों मिलनेसे चतुरंगिनी सेना हुई। (ख) *'बिचरत सबहि चुनौती दीन्हे।'* *'बिचरत'* से जनाया कि योद्धाको खोजता फिरता है, पर कोई मिलता नहीं, यथा—*'रनमदमत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा॥'* (१। १८२)

('धीरन्ह के मन भगति दृढ़ाई'—प्रसंग)

लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका॥११॥
एहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥१२॥
दो०—तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥

लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि॥ ३८॥

अर्थ—हे लक्ष्मण! कामकी इस सेना को देखकर जो धैर्यवान् बने रहते हैं उनकी संसारमें साख है, संसारमें उनकी धीरोंमें प्रसिद्धि और गणना है॥ ११॥ स्त्री इस (कामदेव) का एक (प्रधान, अद्वितीय) परमबल है। उससे जो बच जाय वही भारी योद्धा है॥ १२॥ हे तात! काम, क्रोध और लोभ ये तीनों अत्यन्त प्रबल दुष्ट हैं, ये विज्ञानके धाम मुनियोंके मनको भी पलमात्रमें ये विचलित कर देते हैं। इच्छा (चाह) और दम्भ लोभका बल है, कामका बल एक स्त्री ही है और क्रोधका कठोर वचन बल है—मुनिश्रेष्ठ विचारकर ऐसा कह रहे हैं॥ ३८॥

टिप्पणी—१ '*लछिमन देखत काम अनीका*.........' इति। (क) कामकी सेना कहने लगे तब लक्ष्मणजीसे उसे देखनेको न कहा और वसन्त एवं वनकी बहार देखने लगे तब उनसे भी देखनेको कहा,—'*देखहु तात बसंत सुहावा,*' '*लछिमन देखु बिपिन कै सोभा*' और यहाँ कहा '*लछिमन देखत काम अनीका।*' काम, सेना, वन और वसन्त तीनोंको पृथक्-पृथक् वर्णन किया और तीनोंके वर्णनमें लक्ष्मणजीको सम्बोधन करके तीनोंकी विलक्षणता या अद्भुतता दर्शित की। (ख) '*रहहिं धीर*......' अर्थात् इस सेनाको देखकर वीर भाग जाते हैं, यथा—'*भागेउ बिबेक सहाय सहित सो सुभट संजुग महि मुरे।*' (१। ८४) जो न भागें धीर बन रहें, उनकी जगत्‌में भटोंमें गिनती है। *लीक*=रेखा, गणना, यथा—'*भट महुँ प्रथम लीक जग जासू।*' (१। १८०। ७) (ग) पूर्व कहा था कि '*देखत केहि कर मन नहिं छोभा*' उसीका यहाँ सँभाल करते हैं कि '*देखि न मोह धीर मन जाका*' और '*रहहिं धीर तिन्ह*..........।' यथा—'**विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।**' इति (कुमारसम्भव) (घ) यह मानो लक्ष्मणजीकी बड़ाई है कि तुम भारी सुभट हो।

टिप्पणी—२ '*एहि के एक परम बल नारी*' इति। (क) चतुरंगिनी सेना जो कह आये वह बल है। और 'नारी' परम बल है। ['परमबल' का भाव कि ब्रह्मदत्त शक्तिसे भी अधिक बलवान् है, कामदेवके पञ्चबाणोंका समूह इसमें बसता है। (रा० प्र०) पुनः, नारी-नरकी अर्धाङ्गिनी है और वही कामका परमबल है। जब नरकी वह आधी सेना कामरूपी शत्रुसे मिल गयी तब उससे जय पाना बड़े प्रतापी वीरका ही काम है। पुनः, इसी नरकी अर्धाङ्गिनीद्वारा ही कामके पंचबाण चलते हैं। उसकी चालमें आकर्षण, चितवनमें उच्चाटन, हँसीमें मोहन, बोलमें वशीकरण और रतिमें मरण है। (वै०) अपने पुरुषार्थद्वारा काम बली है, सेवाद्वारा प्रबल है और नारीद्वारा परम वा अति बली है। (खर्रा) 'एक' और 'परम' से जनाया कि मुख्य परम बल यही है। कामदेवका गौण बल ही लोभका परम बल हो जाता है। बहुतसे विषयोंकी इच्छा कामका गौण बल है। (प० प० प्र०)] (ख) '*जनु भट बिलग बिलग होइ छाये।*' यह चतुरंगिनी सेना है। इससे जो लड़े वह भट है। ऊपर कह आये कि इनके मुकाबलेमें जो खड़ा रह जाय उसकी भटमें गणना है और अब कहते हैं कि इनसे जो जीते वह सुभट है। और जो नारिरूपी कामके '**प्रबल बल**' रूपी प्रबल सेनाको जीत ले, उससे बच जाय, वह तो 'भारी सुभट' है। इस प्रकार यहाँ धीर, भट, सुभट और भारी सुभट दिखाये।

टिप्पणी—३ (क) '*तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ*........' इति। यथा—'*काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥*' (४३) पहले कहा कि '*एहि के एक परम बल नारी*' और अब कहते हैं कि काम, क्रोध और लोभ ये तीनों अत्यन्त प्रबल खल हैं। कामके ही प्रकरणमें तीनोंको कथन करनेका भाव यह है कि एक काम ही ये तीन रूप धारण किये हुए है—'*कामै क्रोध लोभ बनि दरसै तीनों एकै तनमें*' (काष्ठ-जिह्वास्वामी) [गीतामें भी भगवान्‌ने यही कहा है। यथा—'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः

कामात्क्रोधोऽभिजायते॥' (२। ६२) अर्थात् विषयोंका चिन्तन करनेसे उनमें आसक्ति बहुत बढ़ जाती है, आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है और उस (आसक्ति) की परिपक्कावस्थाका नाम 'काम' है। काम ही मनुष्यको खींचकर शब्दादि समस्त विषयोंमें लगाता है। काम बना रहे और कामनानुसार विषयोंकी प्राप्ति न हो तो उस समय उस बाधामें हेतु बने हुए प्राणियोंके प्रति अथवा पास रहनेवाले पुरुषोंपर क्रोध होता है कि इनके द्वारा ही हमारा अभीष्ट नष्ट हुआ। इसीसे भगवान्‌ने कहा है कि '**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।**' (गीता ३। ३७) अर्थात् रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है।] (ख) एक-एकका बल पृथक्-पृथक् बताते हैं कि लोभके ***'इच्छा दंभ बल'*** कामके ***'केवल नारि बल'*** और क्रोधके ***'परुष बचन बल'***— तीनों अपनी इस सेनाके बलसे अति प्रबल हैं। (ग) इस प्रकरणमें इन तीनोंकी प्रधानता कही गयी है, यथा—(१) ***'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ',*** इसमें 'काम' को प्रथम कहकर कामकी प्रधानता कही ***'लोभके इच्छा दंभ बल कामके केवल नारि। क्रोध के'''''''''',*** इसमें लोभको प्रथम कहकर उसको प्रधान जनाया। और, ***'क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं''''''''''*** में क्रोधको प्रधान किया। इस प्रकार तीन ठौर पृथक्-पृथक् एकको प्रथम लिखकर तीनोंको एक समान प्रधान और अति प्रबल बताया। कोई एक-दूसरेसे कम नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग कामका है अतः यहाँ कामको प्रथम कहा।

टिप्पणी—४ ***'मुनि बिग्यान धाम मन करहिं''''''',*** यथा—***'भयउ ईस मन छोभ बिसेषी।'*** (१। ८७। ४) ***'नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमबादी॥''''''''''को जग काम नचाव न जेही।''''''''''केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा। ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार। केहिकै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहि संसार॥'*** (७। ७०) विज्ञानधाम श्रीनारदजी कन्याको देख कामवश हुए, फिर उसके पानेकी इच्छाकी, न मिली तब क्रोध किया। मुनिवर इस बातको जानते हैं, इससे वे साक्षात् नहीं जीते जाते।

टिप्पणी—५ (क) ***'लोभके इच्छा दंभ बल''''''''''*** का भाव कि ज्यों ही पंच विषयोंमेंसे किसीकी चाह मनमें हुई और उसकी प्राप्तिके लिये दम्भ रचा गया कि लोभकी जय हुई। स्त्रीसे सम्भाषण, व्यवहार, प्रीति हुई कि कामकी जय हुई और कठोर वचन मुखसे निकले कि क्रोधकी जय हुई। [(ख) अपनेको अच्छे सुशील, जितेन्द्रिय महात्मा इत्यादि जतानेकी इच्छा ही दम्भ है। यहाँ काम, क्रोध, लोभको जीतनेके उपायका उपदेश हुआ। जो काम, क्रोध, लोभके बलको सदैव दृष्टिमें रखेंगे वह उनको वशमें रख सकते हैं। जैसे यह इच्छा उठे कि यह मिले उसे दबाओ। स्त्रीका खयाल भी मनमें न आने दो, यह कामको जीतनेका उपाय है। कठोर वचन सुनकर उसको उत्तर न दे, कठोर वचन न बोले, यह क्रोधके जीतनेका उपाय है। (पं० रा० व० श०) अब तो वैरागियोंके यहाँ स्त्रियाँ ही पैर दबाने लगी हैं, अकेले कमरेमें साथ रहती हैं।]

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—***'लछिमन देखत''''''''''''छोभ'*** इति। (क) ***'लछिमन देखु बिपिन कै सोभा।'*** (३७। ३) से ***'कामिन्ह कै दीनता देखाई'*** प्रसंग आरम्भ किया। अब उसे समाप्त करके ***'धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई'***— प्रसंगको प्रारम्भ करते हुए फिर ***'लछिमन'*** सम्बोधन देते हैं। कहते हैं कि इस सेनाके दर्शन करनेपर जिसका धैर्य बना रहे उसीकी सच्ची लीक जगत्‌में है, और, ***'भट महँ प्रथम लीक'*** वालोंकी लीक झूठी है। (ख) ***'तीनि अति प्रबल खल''''''''*** इति। भाव कि खल तो बहुत है जो निष्कारण दूसरेका अपकार किया करते हैं, पर कामादि बड़े प्रबल खल हैं। देखिये, विज्ञानधाम मुनि सबका कल्याण चाहनेवाले हैं, उनके निर्मल मनमें भी पलक मारते क्षोभ उत्पन्न करते हैं। अतः ये तीनों संसारभरके शत्रु हैं, इनके मारे कोई निःश्रेयस-पथारूढ़ होने नहीं पाता। अतः उनके बलको जान लेना चाहिये, जिससे अपनी रक्षा हो सके। कामका परम अस्त्र स्त्री है। स्त्रीके जीत जानेसे सम्पूर्ण कामकी सेना जीती जाती है। स्त्रीका जय वस्तुविचारसे होता है। इसी भाँति क्रोधका परम बल परुष वाक्य है। इसका जय क्षमासे होता है। लोभको दो बल हैं—एक इच्छाका, दूसरा दम्भका।

इन दोनोंका जय सन्तोषसे होता है। यथा—*'सम संतोष दया बिबेक ते ब्यवहारी सुख कारी।'* इस प्रकारसे उपदेश देकर धीरोंके हृदयमें वैराग्य दृढ़ किया।

प० प० प्र०—१ इच्छानुकूल विषयकी प्राप्ति होनेपर यह इच्छा होती है कि निरन्तर अपने पास रहे और बढ़ता जाय, यही लोभ है। काम (इच्छा) से ही लोभकी उत्पत्ति है। विघ्न होनेसे क्रोध होता है। लोभकी वृद्धि होनेपर विषयकी प्राप्ति और अधिक संचय होनेपर 'मद' हो जाता है। जब अपनी नैसर्गिक शक्ति, गुण, कर्तृत्व इत्यादिसे इच्छित वस्तुकी प्राप्ति असम्भव या दुर्लभ जान पड़ती है, तब दम्भका आश्रय लिया जाता है। कपट, छल इत्यादि दम्भके सगे भाई हैं। २—*'कामके केवल नारि'* इति। केवल एक स्त्री विषयरूपी ग्राम्य सुखके कारण मनुष्य अनेक विकारोंका शिकार बन जाता है, सद्गतिदायकको, सद्गुणोंको खो बैठता है, सुख और शान्ति जवाब दे देते हैं। लाखों करोड़ों वीरोंके प्राण इसके ही कारण हवन कर दिये जाते हैं। राम-रावण-युद्ध तथा महाभारतयुद्धका मूल भी तो यही था।

☞स्मरण रहे कि शास्त्रोंमें स्त्रियोंके विरुद्ध जो कुछ लिखा गया है वह पुरुषोंके परम हितकी दृष्टिसे ही। पुरुषोंके लिये स्त्री जितनी हानिकारक होती है, नारिवर्गके लिये पुरुष उतना हानिकारक नहीं होता। ☞फिर हमारे शास्त्रोंमें सती, पतिव्रता, भगवद्भक्त स्त्रियोंकी महिमा भी तो खूब गायी गयी है। जो यह चिन्ता करते हैं कि सभी ब्रह्मचारी, संन्यासी हो जायँगे तो विश्व कैसे चलेगा, उनसे मेरा प्रश्न है कि आपने कभी यह भी चिन्ता की कि 'धन कमाते-कमाते सभी धनी हो जायँगे तब जग कैसे चलेगा? अतः हम धनी नहीं बनना चाहते, वनमें जाकर कन्दमूल फल खाकर जीवन बिता देंगे।' यदि ऐसी चिन्तावाले कोई प्राणी होंगे तो वे यही सिद्धान्त करेंगे—*'माया रूपी नारि' 'एहि ते उबरु सुभट सोइ भारी।'*

गुनातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अंतरजामी॥ १॥
कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई॥ २॥
क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया॥ ३॥
सो नर इंद्रजाल नहीं भूला। जा पर होइ सो नट अनुकूला॥ ४॥
उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥ ५॥

शब्दार्थ—**सचराचर**=चर-अचर-सहित जितना प्रपंच है। गुणातीत—सारा प्रपंच त्रिगुणमय है। शोक, हर्ष इत्यादि सब गुणके ही कार्य हैं, भगवान् रामजी इनसे परे हैं। **दीनता**=दीन-हीन दशा। दुःखसे उत्पन्न अधीनताका भाव, संतप्त दशा।

अर्थ—हे उमा! श्री रामजी त्रिगुण (सत्, रज, तम) से परे हैं, चराचरमात्रके स्वामी हैं, सबके अन्तःकरणको जाननेवाले हैं॥ १॥ उन्होंने कामी लोगोंकी दीन दशा दिखाकर धीर पुरुषोंके मनमें वैराग्यको दृढ़ किया है (कि वैराग्य छोड़ स्त्रीमें प्रेम करोगे तो इस दीन दशाको प्राप्त होगे)॥ २॥ क्रोध, काम, लोभ, मद और माया ये सब-के-सब श्रीरामजीकी कृपासे छूट जाते हैं॥ ३॥ जिसपर वह नट प्रसन्न होता है वह मनुष्य इन्द्रजाल (मायाप्रपंच) में नहीं भूलता॥ ४॥ हे उमा! मैं अपना अनुभव कहता हूँ कि हरिभजन ही सत्य है और सब जगत् स्वप्नवत् है॥ ५॥

खर्रा—भाव कि जो त्रिगुणसे परे सचराचरके भीतर-बाहर व्याप्त है उसमें अज्ञान कैसे सम्भव है? तब ऐसा रुदन आदि क्यों करते हैं उसका समाधान करते हैं कि *'कामिन्ह कै......'*।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'गुनातीत......'* इति। अब प्रश्न यह उठता है कि जिसे इतना दिव्य ज्ञान है कि काम, क्रोध और लोभको शत्रु समझता है, उनके बलाबलको जानता है, उसे विरहसे विकलता कैसी? इसपर महादेवजी कहते हैं कि वस्तुतः उन्हें विरह नहीं है, वे गुणातीत हैं, परन्तु चराचरके स्वामी हैं, अन्तर्यामी हैं, लोकशिक्षाके लिये चरित्र करते हैं। पहले कामियोंकी दीनता दिखायी, तत्पश्चात् धीरोंके हृदयमें वैराग्य दृढ़ करनेके लिये उपदेश देते हैं।

टिप्पणी—१ *'कामिन्ह कै दीनता देखाई'* इति।—*'देखहु तात बसंत सुहावा। प्रियाहीन मोहि भय उपजावा॥'* और *'बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल'* यह अपने द्वारा कामियोंकी दीनता (दीन दशा) दिखायी और धीरोंके मनोंमें वैराग्यको दृढ़ किया। विरही बनकर दोनों ही बातें दिखायीं। *'देखि न मोह धीर मन जाका'* और *'रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका'* यह जो पूर्ण वचनका सँभाल किया यह धीर जनोंमें वैराग्यको दृढ़ करनेवाला है। भाव कि जो कामी होते हैं उन्हें इसी तरह क्लेश होते हैं। जब परात्पर ब्रह्मको भी संसारमें इस प्रकार संकट सहना पड़े तब हमको तो संसारके सारे पदार्थ असार जानकर छोड़ ही देने चाहिये, इनमें कभी आसक्ति न होने दें। भा० स्क० ९ अ० १० श्लो० ११ में भी यही भाव है—'**भ्रात्रा वने कृपणवत्प्रियया वियुक्तः स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार।**' अर्थात् स्त्री-संग करनेवालोंको ऐसा दुःख होता है, यह जगत्‌को दिखानेके लिये प्रियके विरहसे विलाप करते हुए दीनोंकी भाँति भाईके साथ सीताजीकी खोजमें वन-वन घूम रहे हैं। देखिये, दोहावलीमें क्या लिखते हैं—*'जन्मपत्रिका बरति कै देखहु मनहिं बिचारि। दारुन बैरी मीचुके बीच बिराजति नारि॥'* (२६८) अर्थात् जन्मकुण्डलीका व्यवहार करके मनमें विचार देखो कि स्त्रीका स्थान (सातवाँ) दारुण शत्रु और मृत्युके स्थानोंके बीचमें है, अर्थात् कठिन शत्रुता और मृत्यु दोनों इसके द्वारा होते हैं। पुनः, यथा—'**रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः। कामिनां दर्शयन्दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्॥**' (भा० १०। ३०। ३५) अर्थात् भगवान् आत्माराम हैं, वे अपने आपमें ही संतुष्ट और पूर्ण हैं। वे अखण्ड हैं, उनमें दूसरा कोई है ही नहीं, तब उनमें कामकी कल्पना कैसे हो सकती है? फिर भी उन्होंने कामियोंकी दीनता स्त्रीपरवशता और स्त्रियोंकी कुटिलता दिखाते हुए एक खेल रचा था।

टिप्पणी—२ *'क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं……'* इति। (क) भगवान् शङ्करजी कहते हैं कि श्रीरामजीकी कृपाकटाक्षसे क्रोधादि सब छूट जाते हैं, तब भला उनको काम-क्रोधादि विकार कैसे छू सकते हैं? यथा—*'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई॥'* (१। ११८। ३) *'जासु नाम भ्रमतिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥'* (१। ११६। ४) देखिये। (ख) श्रीरामजीकी दयासे छूटते हैं; तो प्रश्न हुआ कि दया कैसे हो? उत्तर—(क) उनकी भक्ति करनेसे, यथा—*'कहहु सो भगति करहु जेहि दाया'*, पुनः, यथा—*'भगतिहि सानुकूल रघुराया। तातें तेहि डरपत अति माया॥ रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥……यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ। जो जानइ रघुपतिकृपा सपनेहु मोह न होइ॥'* (७। ११६) *'अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥ नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥ लोभपास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥ यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥'* (कि० २१। २—६), *'मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥'* (१। २००। ६)

टिप्पणी—३ कामकी सेना पंच-विषययुक्त है। (१) रूप विषय—*'देखि न मोह धीर मन जाका।'* (२) रस—*'दुंदुभी झरना।'* झरनामें जल होता है और *'जल बिनु रस कि होई संसारा।'* (३) गंध—*'बिबिध भाँति फूले तरु नाना।'* (४) शब्द—*'कूजत पिक मानहुँ गजमाते।'* (५) स्पर्श—*'त्रिबिधि बयारि बसीठी आई'* और *'परस कि होइ बिहीन समीरा।'* पञ्चविषययुक्त होनेसे जो उसे देखते हैं वे विषयी हो जाते हैं।

नोट—१ वनकी लीला अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दर तीन काण्डोंमें कही गयी। इन तीनों काण्डोंमें रघुपतिकृपासे ही कामादिक विकारोंका छूटना सम्भव कहा गया है। आ०, कि० के प्रमाण ऊपर आ ही गये। सुन्दरमें सुनिये यथा—*'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥ ममता तरुन तमी अँधियारी। रागद्वेष उलूक सुखकारी॥ तब लगि बसत जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥……तुम्ह कृपाल जा पर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला॥'* (४७)

नोट—२ ***'सो नर इंद्रजाल'*********''** इति। भाव कि जिसके ऊपर वे कृपा कर दें, उसका काम क्रोध लोभ मद माया छूट जाय। तब उनपर काम-क्रोधादिका क्या बल चलेगा? ऐन्द्रजालिक नट जब अपना प्रपंच फैलाता है तब सभी उसके चक्करमें आ जाते हैं, पर नटका सेवक चक्करमें नहीं आता, क्योंकि वह नटका कृपापात्र है। यथा—***'नट कृत बिकट'*******'**। उसी प्रकार जिसपर श्रीरामजीकी कृपा होती है वह मायाजालके तत्त्वको समझता है, उसके चक्करमें नहीं आता। उदाहरणके रूपमें शिवजी अपना अनुभव कहते हैं। (वि० त्रि०) मिलान कीजिये—***'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥'*** (७। ७२) ***'नटकृत बिकट कपट खगराया। नट सेवकहि न ब्यापइ माया॥'*** नट क्योंकर अनुकूल हो यह आगे अपने अनुभवसे बताते हैं।

वि० त्रि०—***'उमा कहउँ मैं अनुभव'**********'** इति। (क) शिवजी उमाजीसे कहते हैं कि मैं सुनी-सुनायी बात नहीं कहता, स्वयं अपना अनुभव कहता हूँ कि यह जगत्‌जाल मुझे स्वप्न-सा प्रतीत होता है। स्वप्नकी प्रतीतिमात्र होती है, पर उसमें वास्तविकता कुछ नहीं होती। इसी भाँति मुझे जगत्‌की प्रतीतिमात्र होती है, उसकी वास्तविकतापर मुझे विश्वास कभी नहीं होता। यही गति, श्रीरामजीके अन्य कृपापात्रोंकी समझ लेनी चाहिये। यथा—***'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई॥'***

टिप्पणी—४ ***'सत हरिभजन जगत सब सपना'*** इति। प्रथम रामचरितको इन्द्रजालके समान कहा। इन्द्रजाल झूठा होता है, इससे रामचरितमें मिथ्यात्वकी शंका हुई, अतएव उसकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि ***'सत हरिभजन।'*** जगत् स्वप्नवत् झूठा है, पर सत्य-सा मालूम होता है। हरिभजन सत्य है, अतः झूठको त्यागकर सत्यको ग्रहण करो, यह उपदेश है। (ख) इन्द्रजाल झूठा होता है पर जहाँ वह होता है वह जगह सत्य है और यहाँ इन्द्रजाल सत्य है, जगह (संसार) झूठी है। (इन्द्रजाल तन्त्रका एक अङ्ग है। मायाकर्म या जादूगरी।) (ग) ***'अनुभव अपना'*** का भाव कि और महात्माओंका चाहे और अनुभव हो, जैसे किसी-किसीका मत है कि जगत् सत्य है, यथा ***'कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगुल प्रबल करि मानै'***— [कर्म उपासना-देशमें सत्य है, इसीसे याज्ञवल्क्य और भुशुण्डीद्वारा यह न कहलाया। ज्ञानमें असत्य है इसीसे शिवउमासंवाद यहाँ रखा। (खर्रा)] * (घ) हरिभजनसे स्वप्नका नाश है; यथा ***'जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥'*** (१। ११२। २) (ङ) ***'उमा'*** संबोधनका भाव कि इसी लीलाको देखकर सतीजीको मोह हुआ था—***'खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी। ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी॥'*** अतः इस प्रकरणमें 'उमा' संबोधन दिया।—***'सुनहु उमा ते लोग अभागी', 'राम उमा सब अंतर जामी', 'उमा कहौं मैं अनुभव अपना।'*** अर्थात् जहाँसे सीताजीको खोजना प्रारम्भ हुआ है वहाँसे ***'उमा'*** को ही बराबर सम्बोधन किया है। ***'आश्रम देखि जानकी हीना'*** से इस काण्डकी समाप्तितक यही सम्बोधन है।

खर्रा—***'सत हरिभजन जगत सब सपना'***, इस कथनका प्रयोजन यह है कि हरिभजन सत्य है, इसमें चित्त देना चाहिये और जो विरहादि जगत्-व्यवहार प्रभु कर रहे हैं, वे सब स्वप्नरूप हैं, उनपर दृष्टि न डालनी चाहिये; यथा ***'रामहि भजिय तर्क सब त्यागी।'***

मा० म०—***'कामिन्ह कै दीनता देखाई'*** अर्थात् जो स्त्रीके विश्वासी हैं उनके लिये उपदेश है कि कामवश स्त्रीका विश्वास न करो, नहीं तो जैसे मुझे दुःख हुआ वैसे ही असह्य दुःख तुमको होगा। फिर यह भी उपदेश कि स्त्री निरन्तर साथ रहे, यदि बिछुड़ जाय तो उसके मिलनेका अभङ्ग उपाय करना चाहिये। ***'धीरन्हके मन बिरति दृढ़ाई'*** अर्थात् जो स्त्रीके चितवन-रूपी बाणसे अधीर नहीं होते उनको उपदेश किया कि सदैव निसोत (असंग) रहना ही कर्तव्य है क्योंकि संगमें असह्य दुःख होता है।

'बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा'—प्रसंग समाप्त हुआ।

---

* इस विषयमें पूर्व बालकाण्ड १। ११२। २ में लिखा जा चुका है। पाठक वहीं देखें।

'जेहि बिधि गए सरोवर तीरा'—प्रकरण

पुनि प्रभु गये सरोवर तीरा। पंपा नाम सुभग गंभीरा॥ ६॥
संत हृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी॥ ७॥
जहँ तहँ पिअहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदार गृह जाचक भीरा॥ ८॥

दो०—पुरइनि * सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म।
मायाछन्न न देखिऐ जैसे निर्गुन ब्रह्म॥
सुखी मीन सब एकरस अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्मसीलन्ह के दिनसुख संजुत जाहिं॥ ३९॥

अर्थ—फिर प्रभु पंपा नामके सुन्दर और गहरे सरोवर (तालाब) के तटपर गये॥ ६॥ उसका जल संत हृदय-जैसा निर्मल है। उसमें मनको हरनेवाले चार सुन्दर घाट बाँधे गये हैं॥ ७॥ अनेक प्रकारके अनेक पशु जहाँ-तहाँ जल पी रहे हैं (वे ऐसे मालूम होते हैं) मानो उदार दाताके घर भिक्षुओंकी भीड़ लगी हो॥ ८॥ घनी पुरइनकी आड़में जलका शीघ्र पता नहीं मिलता, जैसे मायासे ढके होनेसे निर्गुण ब्रह्म नहीं दीखता (भासित होता)। सब मछलियाँ अत्यन्त गहरे जलमें एकरस सदा सुखी रहती हैं, जैसे धर्मात्मा पुरुषोंके दिन सुखसहित बीतते हैं॥ ३९॥

टिप्पणी—१ *'पुनि प्रभु गये'* में *'पुनि'* पद देकर प्रसंगको पूर्व प्रसंगसे पृथक् किया। यहाँतक ***'जेहि बिधि गए सरोवर-तीरा'*** प्रसंग हुआ। अब सरका वर्णन करते हैं। **गम्भीर**=अगाध, गहरा।

नोट—१ पंपा नामकी नदीसे पंपासर बना। इसीसे यह नाम पड़ा। पंपानदी अब कौन-सी नदी है और ऋष्यमूक पर्वत कहाँ है यह ठीक निश्चय नहीं होता। विलसनसाहब लिखते हैं कि यह नदी ऋष्यमूकसे निकलकर तुंगभद्रामें मिल गयी है। रामायणसे पता लगता है कि ऋष्यमूक और मलय पास-पास थे। आजकल ट्रावनकोर राज्यमें एक नदीका नाम पंबे है जो पश्चिमीघाटसे निकलती है जिसे वहाँवाले *'अनमलय'* कहते हैं। अस्तु, यही नदी पंपा जान पड़ती है। (श० सा०) प्र० का मत है कि इसमें पंकजका पालन होनेसे पंपा नाम हुआ। वंदन पाठकजी कहते हैं कि यह ब्रह्मकृत दिव्य सर है पंपासरका कुछ वर्णन कबन्धने वाल्मी० (३। ७३, १०—२२) में किया है और फिर (सर्ग ७५) और (कि० सर्ग १) में कुछ वर्णन मिलता है।

नोट—२ *'सुभग गंभीरा'* अर्थात् वह ऐसा स्वच्छ और गहरा तथा जलके गुणोंसे पूर्ण था मानो स्वच्छ शीतल जलका समुद्र हो, यथा—**'शीतवारिनिधिं शुभाम्।'** (वाल्मी० ३। ७५। १९) *'सुभग'* से जनाया कि वह कमल, केशर, वृक्ष, लता, हंस, चक्रवाक आदि अपने ऐश्वर्यसे पूर्ण था जिससे वह अत्यन्त शोभायमान था। लाल कमलोंसे लाल, श्वेत कमलोंसे श्वेत और नील कमलोंसे वह नील वर्णका देख पड़ता था।

नोट—३ ***'संत हृदय जस निर्मल बारी'*** अ० रा० में भी कहा गया है कि उसका कमल-केशरसे सुवासित जल सज्जनोंके चित्तके समान स्वच्छ था। यथा—'**सतां मनः स्वच्छजलं पद्मकिञ्जल्कवासितम्।**' (४। १। ४) यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है। प्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि उपमेय उपमानसे सदा न्यून होता है यहाँ *'बारी'* उपमेय है और *'संत हृदय'* उपमान। इससे ध्वनित किया कि संतोंका हृदय निर्मल जलसे भी अधिक निर्मल होता है।

टिप्पणी—२ निर्मलसे जनाया कि काई आदि कुछ उसमें नहीं है। हृदयका मल विषय है और विषयको काई कहा ही है; यथा—***'काई बिषय मुकुर मन लागी।'*** पुनः, जलका मल ***'संबुक भेक सिवार'*** है

---

* पुरइनि—का०, ना० प्र०। पुैनि—भा० दा०।

और हृदयको मलिन करनेवाली विषयकथा है। संत न विषय सेवन करें, न विषयकी कथा सुनें। यथा—'*संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषयकथा रस नाना॥*' (१। ३८। ४) पुनः निर्मलका भाव कि अगाध होनेपर भी नीचे भी मल नहीं है, नीचेकी भूमि स्वच्छ देख पड़ती है जैसे संतका हृदय भीतरसे छल कपटरहित होता है।

टिप्पणी—३ '*जनु उदारगृह जाचक भीरा*' अर्थात् जैसे उदार दानीके घर सभी माँगनेवाले पाते हैं, वैसे ही यहाँ सभी जीवोंके जल पीनेका सुपास है, कोई विमुख नहीं जाता। (इससे जनाया कि पशु-पक्षी सभी यहाँ रहते हैं। यथा—'**मृगद्विजसमाकुला।**' (वाल्मी० ४। १। ७) तथा पशुओंको जलतक पहुँचानेका सुपास है।)

टिप्पणी—४ (क) '*पुरइनि सघन ओट जल*.........' इस दोहेमें जलको निर्गुणब्रह्म समान कहा और आगे सगुण होना कहते हैं। '*बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा॥*' (ख) जैसे '**निर्गुणब्रह्म**' इस कथनका भाव यह है कि सगुणब्रह्म मायाकी आड़में देख पड़ता है पर निर्गुण नहीं देख पड़ता। (ग) जैसे जल निराकार है। जब जलका गुण कमल प्रकट हुआ, तब पक्षी उसे देखकर बोलते और सुखी होते हैं, भ्रमर रसका पान करते हैं। वैसे ही निर्गुणब्रह्म जब सगुण हुआ तब वेद और मुनिजन गुणगान करते हैं, भृत्य छबि-मकरन्दका पान करते हैं, यथा—'***बोलत खगनिकर मुखर मधुर करि प्रतीति सुनहु श्रवन प्रानजीवनधन मेरे तुम बारे। मनहु बेदबंदी मुनिबृंद सूतमागधादि बिरुद बदत जय जय जय जयति कैटभारे॥ बिकसित कमलावली चले प्रपुंज चंचरीक गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे। जनु बिराग पाइ सकल सोक कूपगृह बिहाइ भृत्य प्रेममत्त फिरत गुनत गुन तिहारे॥***' (गी० १। ३६) यथा—पुनः, '*फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा॥ गुंजत मधुकर मुखर अनूपा। सुंदर खग रव नाना रूपा॥*' (४।१७।१-२)

खर्रा—जैसे पुरइनका एक ही पर्त एक-दो पत्ते ही हटानेसे जल देख पड़ता है, वैसे ही अपने हृदयसे मायाका आवरण हटानेसे ब्रह्मका स्वरूप देख पड़ेगा, संसारभरकी माया हटानेकी जरूरत नहीं है, केवल अपने ही हृदयकी माया हटानी है।

पं० रा० व० श०—जिस तालाबमें पुरइन हो उसका जल बड़ा ही स्वादिष्ट, ठंडा और गुणकारक होता है। पुरइनकी स्थिति जलकी सत्तासे है, यदि जलकी सत्ता न होती तो पुरइन हो नहीं सकती थी, वैसे ही माया भी ब्रह्मकी सत्तासे है। पञ्च-इन्द्रिय ही परदा हैं, इनको हटानेसे हमें जगत् न देख पड़ेगा जो हमारी दृष्टिमें पहले आया है। किंतु फिर तो ब्रह्मजल ही देख पड़ेगा।

प० प० प्र०—'***माया छन्न न देखिऐ***.........' इति (क) बुद्धिके सामने मायाका पटल आ जानेसे निर्गुण-ब्रह्मका अनुभवमें आना सहज नहीं है। ब्रह्म-साक्षात्कार होनेके लिये मायाका पटल हटाना ही होगा। (ख) जैसे पुरइन, कमलकी उत्पत्ति और वृद्धि जलमें ही होती है और उन्हींसे जल आच्छादित हो जाता है, वैसे ही माया ब्रह्मके आश्रित होनेपर भी ब्रह्मको आच्छादित-सी करती है, जैसे नेत्रमें उत्पन्न होनेवाला पटल नेत्रको ढक देता है। (ग) जैसे पुरइनको हाथसे हटानेपर जलकी प्राप्ति, वैसे ही माया अज्ञानावरणको श्रीसद्गुरुकृपारूपी करसे हटानेपर ब्रह्मसाक्षात्कार होगा। जिसको यह ज्ञान नहीं है कि पुरइनके नीचे सुन्दर जल है, वह पुरइनको हटाने ही क्यों लगा अतः उसे सद्गुरुरूपी मर्मी सज्जनकी आवश्यकता है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—जैसे पुरइनके हटानेसे जल प्रत्यक्ष हो जाता है, वैसे नानात्वदृष्टिके हटानेसे जगत् ब्रह्मके शरीररूपमें दिखलायी पड़ता है, तब '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म।**' (छां० ३। १४) अर्थात् यह सब (जगत्) निश्चय ही ब्रह्म है यह सगुणका देखना होता है। पुनः, ब्रह्म सर्व जगत्का आधार होता हुआ भी इन सबसे निर्लिप्त है, ऐसा निश्चय होना निर्गुणब्रह्मका देखना है, यथा—'***कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥***' (६। ११२); '**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥**' (गीता ९। ४) अर्थात् मुझ अव्यक्त मूर्ति ब्रह्मसे यह सब जगत् व्याप्त है, (मैं

सर्वत्र व्यापक हूँ) सब भूत मुझमें स्थित हैं, (मेरे आधारसे ही उनकी स्थिति है) किंतु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ (उनसे निर्लिप्त हूँ)। अत: भगवान्‌का सर्वाधार होना सगुणत्व और सबसे निर्लिप्त रहना उनका निर्गुणत्व है।

नोट—४ *'माया'* की व्याख्या *'मैं अरु मोर'*.........।' (१५। २-३) में तथा बालकाण्डमें अनेक स्थानोंमें हो चुकी है।

वि० त्रि०—*'पुरइन सघन'* इति। तालाबमें तमाम पुरइन छाये हुए हैं। देखनेवालेको कहीं जलका दर्शन नहीं होता, केवल पुरइन-ही-पुरइन दृष्टिगोचर होती है। विचारसे पता चलता है कि पुरइनका आधार जल है। और पुरइनके आवरणके कारण जल नहीं दिखायी पड़ रहा है, नहीं तो अगाध जलसे लबालब तालाब भरा पड़ा है। इसी भाँति यह मांस-चर्ममय चक्षु भगवान्‌के पर (निर्गुण) रूपका साक्षात्कार नहीं कर सकता; उसका अनुभव तो स्वाध्याय और योगरूपी नेत्रोंद्वारा ही हो सकता है, यथा—'**तदीक्षणाय स्वाध्यायश्चक्षुर्योगस्तथा परम्। न मांसचक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूत: स शक्यते॥**' (विष्णुपुराण ६। ६। ३)

टिप्पणी—५ *'जथा धर्मसीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं'* इति। (क) धर्मका फल सुख है, यथा—*'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥'* (७। २०) *'तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाए। धर्मसील पहिं जाहिं सुभाए॥'* (१। २९४। ३)*'सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धर्मसील सुंदर नर नारी॥'*, इत्यादि।

(ख) यहाँ धर्मशीलोंके दिनोंसे मछलियोंके सुखकी उपमा दी और किष्किन्धामें कहा है कि *'सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरिसरन न एकउ बाधा॥'* इससे जनाया कि यहाँ बाधा है। धर्मशीलोंके दिन सुखसे *'जाहिं'* अर्थात् बीत जाते हैं, पुण्य क्षीण हो जाता है तब वे मर्त्यलोकमें पुन: आ पड़ते हैं और हरिशरणमें कोई बाधा नहीं; यथा—'**न मे भक्त: प्रणश्यति**।' [यहाँ '**धर्मशील**' से केवल वेदत्रयी प्रतिपादित धर्मके आश्रित और भोगोंकी कामनावाले मनुष्योंका अर्थ लिया गया है, क्योंकि ये ही लोग विशाल स्वर्गको भोगकर पुण्यके क्षीण होनेपर पुन: मर्त्यलोकमें आ गिरते हैं। यथा—'**ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते**॥' (गीता ९। २१) जो सब धर्मोंको प्रभुकी आज्ञा समझकर उन्हींके लिये करते हैं; वे तो प्रभुको प्राप्त होते हैं, जहाँसे फिर लौटना नहीं होता।]

खर्रा—*'सुखी मीन सब'* कहा, इसीसे *'धर्मसीलन्ह'* बहुवचन पद दिया। सब प्रकारके धर्मात्मा सब मीन हैं। धर्मका फल सुख है। धर्म और हरिशरण जल है। *'अति अगाध'* का भाव कि धर्म अत्यन्त भी हो तो भी काल पाकर क्षीण होता है। और हरिभक्ति थोड़ी भी हो तो उसका नाश नहीं, यथा—*'भगति बीज पलटै नहिं जौ जुग'*........'। इसीसे धर्म करके भी भक्ति माँगनी चाहिये।

खर्रा—यहाँ शान्तरस कहते हैं। पूर्व शृङ्गार कहकर पीछे शान्त कहनेका तात्पर्य यह है कि निकट आते ही कामका वेग शान्त हो गया। इसीसे प्रथम शृङ्गार कहकर तब शान्त कहा।

प० प० प्र०—इस सिद्धान्तपर आक्षेप किया जाता है कि 'जगत्‌में तो अनुभव इसके विरुद्ध ही मिलता है। धर्मात्मा विशेष दु:खी देखे जाते हैं और अधर्मी सुखी पाये जाते हैं?' समाधान—लोग स्नान, सन्ध्या, देवपूजा आदि करनेवालोंको धर्मशील मानते हैं और यह सब करनेवाला भी अपनेको ऐसा ही समझता है; तथापि धर्मशीलता इससे बहुत व्यापक है। केवल बाह्याचारसे कोई धर्मशील कहने-कहलानेयोग्य नहीं हो जाता। '**अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:। एष सामासिको धर्मो वर्णानां मनुरब्रवीत्**॥' अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अन्तर्बाह्य शौच और इन्द्रियनिग्रह इन पाँचोंका सतत अस्तित्व जिसमें पाया जाय वही धर्मशील होगा। पूर्व श्रीरामगीतामें इसकी परीक्षाका साधन भी बताया है—*'धर्म ते बिरति।'* धर्मशीलताका फल है वैराग्य। जबतक वैराग्यकी प्राप्ति नहीं होती तबतक धर्मशीलता नहीं है। दूसरोंमें वैराग्य है या नहीं, यह जानना बड़ा दुष्कर है। गुरु-विप्र-धेनु-सुर सेवासे भी धर्मशीलता प्राप्त होती है। (१। २९४। १—३) देखिये। धर्मसे वैराग्य होता है तब निर्भयता आती है और अभय होनेसे मनुष्य सुखी होता है।— '**वैराग्यमेवाभयम्**।' (भर्तृहरि)

बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा॥ १॥
बोलत जलकुक्कुट कल हंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥ २॥
चक्रवाक बक खग समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई॥ ३॥
सुंदर खगगन गिरा सोहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥ ४॥
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाए। चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाए॥ ५॥

अर्थ—अनेक रंग-विरंगके कमल खिले हुए हैं। बहुत-से भौंरे मधुर शब्दसे गुञ्जार कर रहे हैं॥ १॥ जलमुर्गे और कलहंस* ऐसा सुन्दर बोल रहे हैं मानो प्रभुको देखकर उनकी प्रशंसा कर रहे हैं॥ २॥ चक्रवाक, बगुले आदि पक्षियोंका समुदाय तो देखते ही बनता है उनका वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ३॥ सुन्दर पक्षीगणकी बोली बड़ी सुहावनी लगती है, मानो रास्तेमें जाते हुए पथिक (बटोही, मुसाफिर) को बुलाये लेती है॥ ४॥ उस तालाबके पास मुनियोंने अपने आश्रम बनाये हैं। चारों ओर वनके वृक्ष शोभित हो रहे हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'बिकसे सरसिज'* इति। (क) पुरइनको कहकर कमलको कहना चाहिये था, पर ऐसा न करके बीचमें मछलियोंका सुख वर्णन करने लगे। इसका तात्पर्य यह है कि पुरइनकी ओटसे जल नहीं देख पड़ता और जलमें मछली है वह भी उनकी ओटमें नहीं देख पड़ती। अतः जलके साथ ही मीनको भी कह दिया। [कमल कई रंगके होते हैं। राजीव और कोकनद लाल होते हैं, पुण्डरीक श्वेत और नीलोत्पल श्याम (मानसमें चार प्रकारके कमलोंका उल्लेख मिलता है। यथा—*'सुभग सोन सरसीरुह लोचन।'*,*'जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी।'*, *'नली पीत जल जाभ सरीरा।'*, *'मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥'* (विशेष १। ३७। ५ भाग १) में देखिये। एक-एक रंगके भी अनेक जाति और नामके कमल होते हैं)। *'पुरइन..........'* से जनाया कि ब्रह्मको जाने, उसका निरूपण करे। और *'बिकसे सरसिज'* से जनाया कि भगवान्‌की पूजा करे।—(खर्रा)] (ख) कमलका पूर्ण स्नेही भ्रमर है, उसके बाद जलपक्षीकी भी स्नेहीमें गणना है; यथा—*'बाल चरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहुरंग। नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर बारि बिहंग॥'* (बा० ४० देखिये)

नोट—१ शंका की जाती है कि 'हंस तो मानसरोवरमें पाये जाते हैं, दक्षिणमें कहाँसे आये?' समाधान यह है कि हंसोंका पम्पासरपर त्रेतामें होना वाल्मी० और अध्यात्म आदि रामायणोंमें भी पाया जाता है और मानस रामचरित भी उसी समयका है, तब शङ्काकी बात ही नहीं रह जाती। प्रमाण यथा—'**हंसकारण्डवाकीर्णा पम्पा सौगन्धिकायुता।**' (वाल्मी० ४। १। ६३) '**हंसकारण्डवाकीर्णं चक्रवाकादिशोभितम्।**' (अ० रा० ४। १। ३) पुनः, (१। ३७। ७) में बताया जा चुका है कि अमरकोशमें हंसके तीन भेद कहे गये हैं—राजहंस, मल्लिकाक्ष और धार्तराष्ट्र। स्वामी प्रज्ञानानन्दजी कहते हैं कि राजहंसका सारा शरीर शुभ्रवर्णका होता है पर चंचु और चरण लाल होते हैं—ये मानससरनिवासी हैं। मल्लिकाक्षके चंचु और चरण किञ्चित धूसर रंगके होते हैं। धार्तराष्ट्रके चंचु और चरण कृष्णवर्णके होते हैं। मल्लिकाक्षको मल्लिकाख्य और मल्लिक भी कहते हैं। [सम्भवतः स्वामीजीका आशय यह है कि 'मल्लिक' जिनको कहते हैं वे पम्पासरपर पाये जाते हैं, वे हंस ही हैं। मानससरके अमराई आदि शंकाके सम्बन्धमें जो वहाँ (१। ३७। ७) में लिखा गया है वह भी देखिये।]

प० प० प्र०—*'जनु करत प्रसंसा'* इति। यहाँ कविका अन्तःकरण भगवान्‌के ऐश्वर्य भावसे भर जानेसे उसको ऐसा ही लग रहा है कि पक्षी और भ्रमर भगवान्‌की स्तुति ही कर रहे हैं। जिसका मन जिस भावनासे व्याप्त रहता है उसको उस समय निसर्गमें भी वही भाव जहाँ-तहाँ प्रतीत होता है। श्रीरघुनाथजीको वसन्तकी शोभा देखकर कामदेवका कटक ही प्रतीत हुआ।

टिप्पणी—२ *'जनु करत प्रसंसा'*। क्या प्रशंसा करते हैं? यह कि बड़े कृपालु हैं, हमको भी दर्शन

* प० प० प्र०—'कल' को हंसके साथ लेना उचित नहीं है।

दिये। (३९। ६—८) देखो। जल निराकार-निर्गुणब्रह्म है, जहाँ वाणी नहीं पहुँचती, वहाँ केवल अनुभव है। वह जब गुण ग्रहण करके सगुण हुआ अर्थात् नाना अवतार लेकर इन्द्रियोंका विषय हुआ देख पड़ा, मुखसे उसका कथन हुआ, श्रवणसे सुन पड़ा, तनसे स्पर्श हुआ, भगवान्‌में सुगन्ध होती है सो नासिकाको प्राप्त हुई, तब जल-कमल-स्नेहीरूप भक्त प्रभुको देखकर प्रशंसा-स्तुति करते हैं। (खर्रा)

टिप्पणी—३ *'बिकसे सरसिज नाना रंगा'* से *'देखत बनइ.........'* तक तालाबके भ्रमर और पक्षियोंको कहा, यथा—*'बापीं तड़ाग अनूप.........।', 'बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं।'* (७। २९) *'सुंदर खगगन गिरा सुहाई'* और *'कुहूकुहू कोकिल धुनि करहीं'* में बागके पक्षी और भ्रमर कहे; यथा—*'आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं।'* (७। २९)

टिप्पणी—४ आषाढ़ शुक्लमें रामजी पञ्चवटीपर आये। जब पञ्चवटीसे चले तब कहा कि *'देखहु तात बसंत सुहावा'* और पम्पासरसे सुग्रीवके यहाँ गये तब कहा कि *'गत ग्रीषम बरषारितु आई।'* दो घड़ी दिन चढ़े पम्पासरपर आये, क्योंकि यहाँ नारदजीको उपदेश देकर फिर चार कोश चलकर किष्किन्धा पहुँचे। इस चौपाईसे जान पड़ता है कि वहाँ दोपहरको पहुँचे—*'सहत दुसह बन आतप बाता'* इससे सिद्ध है कि लपट बहुत चलने लगी थी जब किष्किन्धा पहुँचे।

टिप्पणी—५ *'जात पथिक जनु लेत बोलाई'* इति। भाव कि स्वाभाविक शब्द सुनकर समीप जाकर पथिक बैठ जाते हैं, यही बुलाना है। [इससे सूचित किया गया कि श्रीरघुनाथजी अब वहाँ अवश्य जायेंगे। खगगण मानो सेवक हैं, जो इसी कामपर नियुक्त किये गये हैं कि पथिकोंको बुला लेवें कि आइये, यहाँ जरा विश्राम कर लीजिये और भी पथिक यहाँ आये हैं और आयेंगे, उनके सत्संगका आनन्द लूटिये, अपना श्रम दूर कीजिये, इत्यादि। (प० प० प्र०) मिलान कीजिये—**'आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः।'** (भा० ४। २५। १९) अर्थात् जहाँ कोकिलकी कूकसे मार्गमें जानेवाले पथिकको अपने बुलाये जानेका भ्रम होता था।] यथा—*'आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं।'* और *'देखत बनइ बरनि नहिं जाई'* से जनाया कि स्वरूपसे ऐसे सुन्दर हैं।

शंका—जहाँ हंस हैं वहाँ जलमुर्गे, बगले आदि तो नहीं होने चाहिये। यथा—*'जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत'* (वि० ८५)

समाधान—यह पम्पासरकी उदारता है। ऊपर उसे उदार कह आये हैं—*'जनु उदार गृह जाचक भीरा।'* (३९। ८) यहाँ उसे चरितार्थ किया। *'बिटप सुहाए'* से जनाया कि इन्हें कोई काटते नहीं हैं।

चंपक बकुल कदंब तमाला। पाटल पनस पनास* रसाला॥ ६॥
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना। चंचरीक पटली कर गाना॥ ७॥
सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ॥ ८॥
कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥ ९॥

दो०—फल भारन† नमि बिटप सब रहे भूमि निअराइ।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ॥ ४०॥

अर्थ—चम्पा, मौलसरी, कदम्ब, तमाल, पाटल‡, कटहल, छूल (ढाक) आम आदि अनेक वृक्ष नये

* परास—(का०, ना० प्र०)। पनास और परास दोनों पलाशके अपभ्रंश हैं।

† यह पाठ १७२१ की प्रतिका है। रा० प० में 'फल भर नम्र' है।

‡ पाड़र या पाढरके पेड़-पत्ते बेलके समान होते हैं यह दो प्रकारका होता है, एक सफेद फूलका, दूसरा लाल फूलका। वाल्मी० ३। ७३ में कबन्धने कई नाम गिनाये हैं, कि० स० १ के श्लोक ७५ से ८३ में तो बहुत-से नाम हैं। गोस्वामीजीने दो चरणोंमें कुछ नाम देकर फिर 'तरु नाना' कहकर वे सब वृक्ष जना दिये जो वाल्मीकीयमें ११ श्लोकोंमें कहे गये हैं।

पत्तों और सुगन्धित पुष्पोंसे युक्त हैं जिनपर भ्रमरोंकी पंक्ति-की-पंक्ति गान (गुंजार) कर रही है॥ ६-७॥ शीतल, धीमी और सुगन्धित मन हरनेवाली सुन्दर वायु सदा स्वाभाविक ही चलती है॥ ८॥ कोयलें कुहूकुहू ध्वनि कर रही हैं। उनके रसीले शब्द सुनकर मुनियोंका ध्यान टूट जाता है॥ ९॥ फलके बोझसे सब वृक्ष नम्र होकर अर्थात् झुककर पृथ्वीके पास आ लगे अर्थात् उनकी शाखाएँ पृथ्वीतक बोझसे झुक आयी हैं, जैसे परोपकारी पुरुष उत्तम और अत्यन्त ऐश्वर्य पाकर नवते हैं॥ ४०॥

नोट—१ '*नव पल्लव*.........' क्योंकि वसन्तका समय है। चैत्रमास है। इसीसे कोकिलका कुहूकुहू करना कहा। (खर्रा)

नोट—२ पंपातटके वृक्षोंको कहकर चञ्चरीकको कहनेसे पाया गया कि ये भौंरे इन वृक्षोंके विकसित पुष्पोंके रसोंके ग्राही हैं जो इन वृक्षोंपर क्रीड़ा कर रहे हैं। यथा—'**इदं मृष्टमिदं स्वादु प्रफुल्लमिदमित्यपि॥ रागरक्तो मधुकरः कुसुमेष्वेव लीयते। निलीय पुनरुत्पत्य सहसान्यत्र गच्छति। मधुलुब्धो मधुकरः पम्पातीरद्रुमेष्वसौ॥**' (वाल्मी० ४। १। ८७-८८)

नोट—३ (क) '*सुनि रव सरस*....' में 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है, इससे जनाया कि पंपासरकी शोभा इसके शब्दसे बहुत बढ़ रही है। (ख) '*फल भारन नमि बिटप सब*.....' इति। इससे जनाया कि सब कालमें ये वृक्ष फले-फूले रहते हैं, फलसे लदे होनेसे झुके रहते हैं जिसमें पथिक मीठे फलोंको सुगमतासे प्राप्त कर सकें; उनको खायें, उनका रस पियें इत्यादि। यथा—'**फलभारनतास्तत्र महाविटपधारिणः॥**' (३। ७३। ८) '**सर्वकालफला यत्र पादपा मधुरस्त्रवाः॥**' (७) विटपको परोपकारीसे उपमा दी, क्योंकि जैसे वृक्ष अपने फल-फूलसे, पल्लव, छाल, लकड़ी सब दूसरोंके लिये ही धारण करते हैं, वैसे ही परोपकार-परायण लोग अपनी सारी सम्पत्ति परोपकारके लिये ही समझते और उसमें लगाकर अपनेको कृतार्थ समझते हैं। ☞ यहाँ परोपकारका अर्थ स्पष्ट किया, यथा—'*संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्हि कै करनी॥*'

खर्रा—सुसम्पति अर्थात् वह सम्पत्ति जो धर्मसे कमायी गयी है, अधर्मका जिसमें लेश नहीं। चोरी, डाका, किसीका जी दुःखाकर, झूठ बोलकर, पाखण्ड इत्यादिसे कमाया ऐश्वर्य अधर्मका है। यहाँ परोपकारीको वृक्ष कहा, क्योंकि परोपकारी लोग पर-उपकार करनेमें जड़वत् दुःख सहकर पर-उपकार करते हैं। इस दोहेकी जोड़का श्लोक यह है—'**भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूमिविलम्बिनो घनाः। अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥**' (भर्तृहरिनीतिशतक)

देखि राम अति रुचिर तलावा। मज्जन कीन्ह परम सुख पावा॥ १॥
देखी सुंदर तरुबर छाया। बैठे अनुज सहित रघुराया॥ २॥
तहँ पुनि सकल देव मुनि आये। अस्तुति करि निज धाम सिधाये॥ ३॥
बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला॥ ४॥

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर तालाब देखकर श्रीरामचन्द्रजीने स्नान किया और परम सुख पाया॥ १॥ एक सुन्दर उत्तम वृक्षकी सुन्दर छाया देखकर श्रीरघुनाथजी भाईसहित बैठ गये॥ २॥ तब वहाँ फिर सभी देवता और मुनि आये और स्तुति कर-करके अपने-अपने स्थानोंको चले गये॥ ३॥ कृपालु श्रीरामजी परम प्रसन्न बैठे हुए भाईसे रसीली कथाएँ कह रहे हैं॥ ४॥

प० प० प्र०—जहाँ श्रीरघुवीर निसर्गकी शोभा अवलोकन करके सुखी होते हैं वहाँ कविने बहुधा '*राम*' शब्दका प्रयोग जान-बूझकर ही किया है ऐसा प्रतीत होता है। यथा—'*पुर रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेषी॥*' (१। २१२। ५) '*परम रम्य आरामु यहु जो रामहि सुख देत।*' (१। २२७) '*रमेउ राम मन देवन्ह जाना।*' (२। १३३। ६) '*राम दीख मुनि बासु सुहावन। सुंदर गिरि काननु जलु पावन।* ....*हरषे राजिवनेन॥*' (२। १२४) '*भ्रातन्ह सहित राम एक बारा*....*सुंदर उपबन देखन गए।*' (७। ३२। २)

टिप्पणी—१ *'देखि राम·········'* इति। पंपासरमें इतने लक्षण दिखाकर तब कहा कि *'देखि राम अति रुचिर तलावा।'* भाव कि जो पुरुष ऐसे ही लक्षणोंसे युक्त होता है उसको आप दर्शन देते हैं और देखकर सुखी होते हैं। वे गुण क्रमशः पंपासरके वर्णनमें दिखाये हैं। जैसे, (१) *'पंपा नाम सुभग गंभीरा'*— जिनका हृदय गम्भीर है। (२) *'संत हृदय जस निर्मल बारी'*— जिनका हृदय निर्मल है। (३) *'बाँधे घाट मनोहर चारी'*— जो वर्णाश्रममें रत हैं। (४) *'जनु उदार गृह जाचक भीरा'*— जो उदार हैं। (५) *'मायाछन्न न देखिये जैसे निर्गुन ब्रह्म'*—जो माया और ब्रह्मके स्वरूपको जानते हैं। (६) *'जथा धर्म सीलन्हके दिन सुख संजुत जाहिं'*— जो धर्मशील हैं। (७) *'बिकसे सरसिज नाना रंगा'*— जो सदा प्रसन्न रहते हैं। (८) *'प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा'*— जो सगुणब्रह्मके उपासक हैं। (९) *'सुंदर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥'* जो मधुरभाषी हैं। (१०) *'ताल समीप मुनिन्ह गृह छाए'*— जो साधुसेवी हैं। (११) *'सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ'*— जो सबके सुखदाता हैं। (१२) *'चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाए। चंपक बकुल·········'*—जो आश्रितोंके सुखदाता हैं। (१३) *'कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं'*— जो संतोंसे अति मधुर बोलते हैं। (१४-१५) *'पर उपकारी पुरुष जिमि नवहि सुसंपति पाइ'*— जो परोपकारी और नम्र हैं।

खर्रा—तालाबके किनारे आकर खड़े हुए तब यह शोभा देखी; यथा—*'पुनि प्रभु गये सरोबर तीरा।'* *'अति रुचिर'* का भाव कि रुचिर तो वन भी था पर यह सर *'अति रुचिर'* है।

टिप्पणी—२ *'मज्जन कीन्ह परम सुख पावा'* इति। (क) *'परम सुख'* का भाव कि उपर्युक्त विशेषण-युक्त विचित्र सर देखकर सुख हुआ और स्नानसे परमसुख। (ख) वैद्यकशास्त्रका नियम है कि श्रम निवारण करके तब स्नान करे, वही यहाँ प्रभुने किया। खड़े-खड़े शोभा देखते रहे। इतने समयमें श्रम दूर हो गया, तब स्नान किया।

नोट—१ *'परम सुख पावा'* इति। वाल्मीकीयमें श्रीशबरीजीके आश्रमसे तो प्रसन्न चले, पर पंपासरके समीपस्थ वृक्षों, सरोवरों, पक्षियों, पशुओं इत्यादि प्राकृत सौन्दर्यको देखकर श्रीरामजीका विरह उद्दीप्त हो गया। श्रीलक्ष्मणजीके समझानेपर उन्होंने धैर्य धारण किया है। अ० रा० में शबरीजीके यहाँसे चलनेपर विरहका वर्णन नहीं है। वाल्मी० कि० १ में श्रीरामजीने पंपाके वन-सर आदिका सौन्दर्य विस्तृतरूपसे वर्णन करते हुए विलाप किया है। अ० रा० में केवल तीन श्लोकोंमें पंपाका वर्णन है। मानसका-सा मनोहर प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णन इनमेंसे किसीमें नहीं है।

ऐसा प्राकृत सौन्दर्य विरहीके विरहाग्निको बहुत प्रज्वलित करनेवाला होता है, पर मानसकार उससे परम सुख पाना लिखते हैं। प्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि इस तरह वे अपने *'बिरही इव प्रभु करत बिषादा।'* (३७। २) इस कथनको चरितार्थ कर रहे हैं। जो क्षणमें विरहविह्वल होता है और क्षणमें ही परम सुखी, उसको कौन बुद्धिमान् विरही कहेगा? वस्तुतः उस समय पत्नीविरहविषादका नाट्य किया, अब प्रसन्नताका नाट्य करते हैं।

टिप्पणी—३ *'तहँ पुनि सकल देव मुनि आये'* इति। *'पुनि'* का भाव कि, चित्रकूटमें पूर्व आये थे, यथा—*'अमर नाग किन्नर दिसिपाला। चित्रकूट आए तेहि काला॥'* (२। १३४। १) *'बिबुध बिलोकि दसा रघुबर की। बरषि सुमन कहि गति घर घर की॥ प्रभु प्रनामु करि दीन्ह भरोसो।'* (२। ३२१। ७-८) अब फिर आये। यहाँ साफ-साफ ऐश्वर्य कहा है। यहाँ देवताओंने प्रणाम किया और स्तुति की, नारदजीने दंडवत् की। अयोध्याकाण्डमें माधुर्य वर्णित है, वहाँ चित्रकूटमें माधुर्य ही वर्णन किया गया है, यथा—*'अमर नाग किन्नर दिसिपाला। चित्रकूट आए तेहि काला॥ राम प्रनामु कीन्ह सब काहू॥'* (२। १३४। १-२) देव मुनि इस समय रावणकृत दुःख सुनाने आये। श्रीरामजीने अभय किया, तब वे निज धामको गये। [इस काण्डमें भी खर-दूषणादिके वधपर आये थे, पर अपना दुःख सुनाने नहीं आये थे। पंपासरकी रमणीयतामें श्रीरामजी सीताविरहको भी भूल गये, यह देखकर देवता डरे कि कहीं सीताशोध और रावणवधका कार्य भी न